आदि-भारती | दर्श-यज्ञ

सनातन वाणी

ऋग्वेद का प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा

परमयोगी स्वामी सनातन श्री

- ★ यज्ञ के विस्मयकारी रहस्य !
- ★ क्या मोक्ष सम्भव है ?
- ★ उत्पत्ति, प्रलय एवं सचराचर में व्याप्त ब्रह्म के रहस्यों का अनावरण !
- ★ क्या क्षणभंगुर प्राणी अनन्तावस्था को प्राप्त कर सकता है ?
- ★ ज्ञान, विज्ञान, यज्ञ, योग आदि गूढ़ रहस्यों का सरल, स्पष्ट एवं संदेह रहित स्पष्टीकरण !
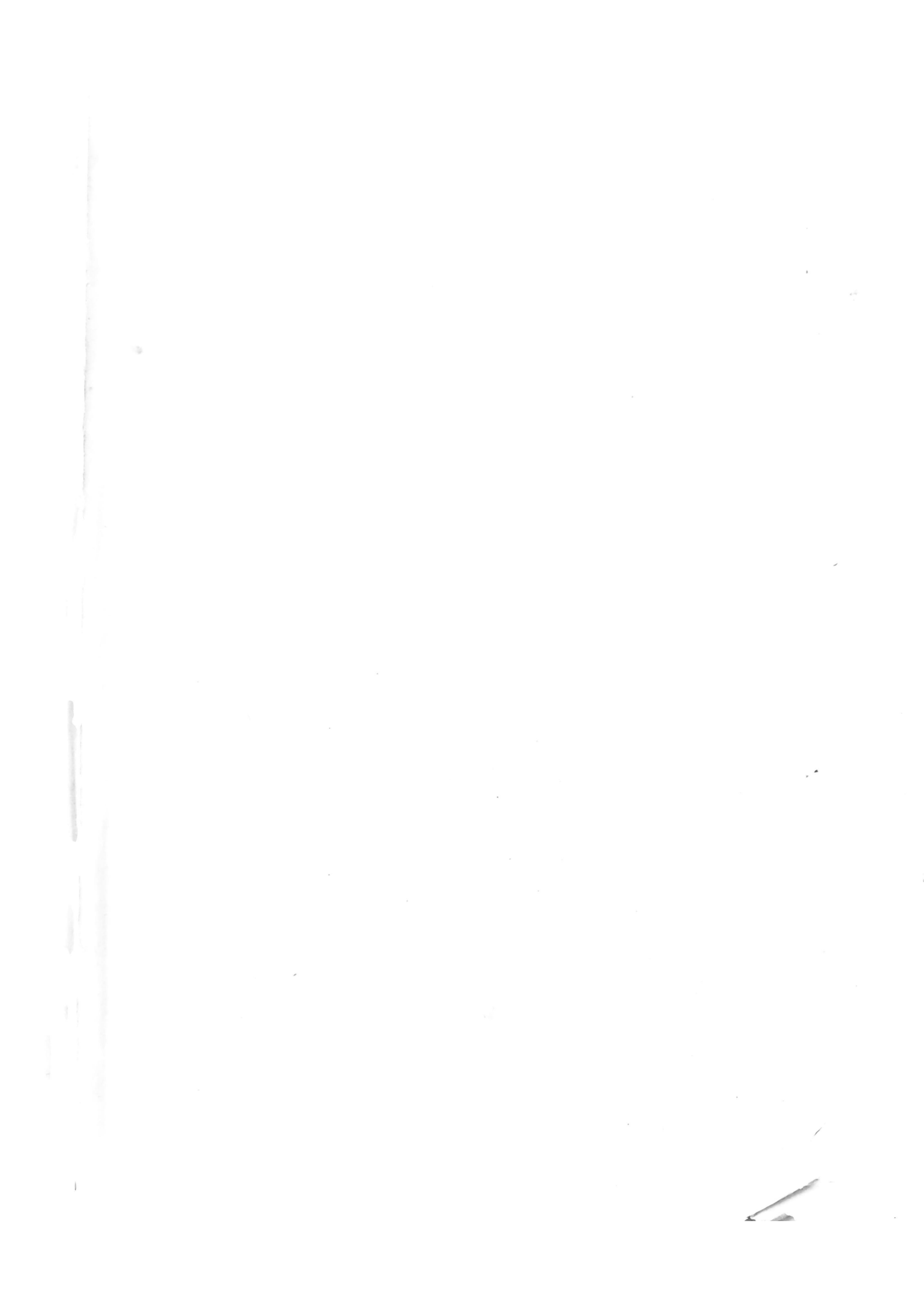
सनातन वाणी

दर्श-यज्ञ

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा

★

प्रवर्णितम्

श्री स्वामी सनातन श्री

★

-: सम्पादक :-

श्री हरिनाथ प्रसाद वर्मा

श्री धनंजय कुमार कुटेमाटे

★

निष्काम पीठ प्रकाशन (प्रा० लि०)

श्री स्वामी सनातन आश्रम,

गौराबाग, कुर्सी रोड,

लखनऊ-२२६००७

फोन : ७३७९७

मूल्य १०१ रुपया मात्र

प्रथम संस्करण :–
शुभ दिपावली, कार्तिक कृष्ण १५
सम्वत २०४७

★

★

मुद्रक :–
समुद्रक प्रिन्टर्स
श्री सनातन आश्रम,
गौराबाग, कुर्सीरोड,
लखनऊ–७
दूरभाष : ७३७६७

प्रवेश से पूर्व

ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा, जोकि ऋग्वेद का आरम्भ भी हैं, उनके रहस्यमय सूक्त आपके सामने प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद आत्मवेद के रूप में जाना जाता है। ऋग्, ऋक्, ऋत् इन तीनों का अर्थ आत्मसम्बन्धी है। सचराचर में व्याप्त, धारण, सृजन और संहार, उत्पत्ति और प्रलय, निरन्तर आवागमन की प्रक्रियाओं को उपरोक्त शब्दों के द्वारा सम्बोधित किया जाता है। वेद ग्रन्थों के ज्ञान को लेकर समाज में बहुत से भ्रम व्याप्त हैं। बहुत से रुढिवादी वेद को केवल पाठ की वस्तु मानते हैं। जबकि वेद स्वयं इस मान्यता को नहीं स्वीकारता है। जिनके परमेश्वर सप्त लोक में रहते हैं, वे प्रार्थना के अतिरिक्त कुछ कर भी नहीं सकते हैं ? लगता है विदेशी धर्मों के प्रभाव में आकर, गुलामी के अन्तरालों में, इस प्रकार की धारणा ने भारतीय समाज में भी व्यापक चलन पाया है। जिनके ईश्वर घट-घट वासी हैं, उनकी साधना जीवन की राह ही हो सकती है। इससे कम कुछ नहीं। ऋग्वेद में इसी धारणा को व्यापक बल दिया गया है।

ऋग्वेद में प्रवेश से पूर्व कुछ वैदिक मान्यताओं को जान लेना परमावश्यक है, जिसके बिना भाष्य का आनन्द पूर्णरूपेण नहीं मिल पावेगा।

ईश्वर :– ईश्वर शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में ऐश्वर्य से होती है। जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे, स्वयं को भुलाकर अथवा इसे यूं भी कहा जा सकता है, "जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे, इच्छा रहित और निष्काम होकर, उसे कहते हैं ईश्वर।" वेद आदि में ईश्वर को मनुष्य से अलग नहीं किया गया। आत्मा शब्द को ही ईश्वर के रूप में सम्पूर्ण सचराचर में प्रतिष्ठित किया गया है। ईश्वर अर्थात आत्मा, परमेश्वर अर्थात परमात्मा। यहाँ सभी अवस्थाओं में केवल परम को ही जोड़ा गया है, जो कि संज्ञा न होकर मात्र विशेषण है। इससे भी स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा को अलग-अलग नाम न देकर केवल सूक्ष्म और व्यापक बनाकर दर्शाया गया है। घट-घट वासी आत्मा ने पेड़-पौधों के गर्भ में बूढ़े तन की राख को, अन्न और फलों में लौटाया, पेट भरने का सम्मान प्राणी मात्र को मिला। जो उत्पत्ति के रहस्यों को नहीं जानते हैं, वे ही भरण-पोषण का सम्मान, व्यापक रूप से पाते हैं। उसी प्रकार घट-घट वासी आत्मस्वरूप होकर अन्न को बालक में, अथवा

जीवधारियों को यथा संतति में, आत्मा ही प्रकट करता है, उत्पन्न करता है। जबकि माता-पिता कहलाने का सम्मान, प्राणी मात्र को प्राप्त होता है। इसी क्रम में वेद में आगे कहा गया है, "हे धरती के मनुष्य! मैंने तुम्हें ईश्वर की कल्पना इसलिए नहीं दी कि तू डर, भय अथवा लोभ के लिए उसकी उपासना करे। ईश्वर की कल्पना मैंने तुम्हें इसलिए प्रदान की कि तू भी धरती का ईश्वर बने। प्राणी मात्र के सुख के लिए अपने सुखों का परित्याग कर, धरा को पीड़ा रहित बनाये, धरती स्वर्ग सी सुखद हो तथा तू धरती का ईश्वर कहाये।"

इस प्रकार वेद आदि ग्रन्थों में तथा सनातन धर्म में ईश्वर की कल्पना विदेशी धर्मों और सम्प्रदायों से बिल्कुल अलग है।

धर्म ग्रन्थ :– सम्पूर्ण वेदों ने ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों की संज्ञा प्रदान की परन्तु उन्हें धर्म-ग्रन्थ नहीं माना। वेद ने माना कि सम्पूर्ण वेद आदि से लेकर, शास्त्र, आरण्यक, उपनिषद और पुराण तथा लीलाग्रन्थ, सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थ की व्याख्या ग्रन्थों के रूप में ही ग्रहण किया गया है। इसे अच्छी प्रकार स्पष्ट कर लेना चाहिये। वेद ने माना कि वे परमेश्वर के द्वारा अध्यात्मिक विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम के रूप में प्रकट हुए हैं। जिस प्रकार विभिन्न कक्षायें विश्वविद्यालय में होती हैं तथा उनके विभिन्न पाठ्यक्रम होते है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ अध्यात्मिक विश्व-विद्यालय की पाठ्यपुस्तकों के समान हैं। जबकि मूल धर्मग्रन्थ एक ही है। वह धर्मग्रंथ भोज-पत्रों अथवा पुस्तकों के रूप में नहीं है, **सम्पूर्ण प्रकृति ही परमेश्वर द्वारा लिखा जा रहा निरन्तर धर्मग्रंथ है तथा जीव मात्र एवं जीवन्त पेड़-पौधे उसके अक्षर हैं। मनुष्य भी इस क्रम में एक अक्षर के समान है, जिसे स्वयं परमेश्वर आत्मा होकर प्रतिक्षण लिख रहा है।** "पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यते।" देखो! ईश्वर का काव्य अर्थात रचना, जो न कभी मरता है तथा न जीर्णता को प्राप्त होता है, यही मूल धर्मग्रन्थ है। सम्पूर्ण ग्रंथ इसी ग्रंथ का स्पष्टीकरण हैं। सम्पूर्ण अध्यात्मिक विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य मनुष्य की मानसिकता को पूर्ण परिपक्वता प्रदान कर ऋषि के स्तर तक लाने में है। जिससे वह मूल ग्रंथ अर्थात प्रकृति को स्वयं आत्मस्थ होकर ग्रहण कर सके। इसीलिए सनातन धर्म में प्रकृति को ही मूल ग्रंथ माना गया है तथा धर्म को तर्क शास्त्र की कसौटियों से वरद् किया गया है। अन्य धर्मों में तर्क-हीन, संदेह रहित पशुवत् आचरण को धर्म की राह माना गया है। इस प्रकार

भारतीय धर्म और संस्कृति विदेशी धर्मों से अलग स्थान, आस्था तथा मान्यता को ग्रहण करती है।

मन्दिर और यज्ञशाला :– मन्दिर तथा यज्ञशाला के रूप में मनुष्य को ही प्रतीकात्मक के रूप में दर्शित किया गया है। मन्दिर और यज्ञशाला दोनों ही मानव के प्रतीक स्वरूप हैं। वेद ने मन्दिर को एक समाधिस्थ योगी के रूप में दर्शाया है। यथा ; पाल्थी के जैसा मन्दिर का चबूतरा, धड़ के जैसा गोल कमरा, सिर के जैसा गुम्बद, जटाओं के जूड़े जैसा कलश, आत्मा जैसी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति तथा जीव के रूप में निमित्त सेवक, पुजारी। वेद में इसी कल्पना को सर्वत्र ग्रहण किया गया है। यज्ञशाला के रूप में भी तथा यज्ञ के रूप में भी मनुष्य के ही स्वरूप को दर्शाया गया है। यथा ; आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव आचार्य, प्राणवायु उपऋत्विज अर्थात उपाचार्य। आत्मज्वाला, ब्रम्हाग्नि को यज्ञ की ज्वाला के रूप में दर्शाया गया है। शरीर को सामग्री के रूप में ग्रहण किया गया है। जीव ही यजमान है। वेद में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो यज्ञों की सामानान्तर कल्पना की गयी है। वाह्य यज्ञ तथा आन्तरिक यज्ञ। आन्तरिक यज्ञ में आत्मा आचार्य, प्राण - उपाचार्य, आत्म-ज्वाला यज्ञ की अग्नि, तन सामाग्री एवं समिधा, तथा जीव यजमान है। वाह्य यज्ञ में यथा आचार्य, उपाचार, समिधा तथा पवित्र भोजन को सांकल्य के रूप में ग्रहण किया गया है। मंत्रोचार के द्वारा पवित्र अग्नि को यज्ञ की अग्नि के रूप में प्रकट करने की परम्परा है तथा जीव यजमान है। इस प्रकार भीतर और बाहर दोनो यज्ञों में जीव को यजमान के रूप में ग्रहण किया गया है। यजमान उभय है। बाहर के यज्ञ में सांकल्य के साथ संकल्प पूर्वक उसे वाह्य जगत के असत्य अज्ञान तथा अतृप्तियों को भस्म करना है। तब वह पूरी तरह से अन्तर्मुखी हो, स्वयं को उन्हीं ब्रम्ह ज्वालाओं में अर्थात आत्मा रूपी अग्नियों में यज्ञ करते हुए ब्रम्ह ज्वाला के द्वारा नूतन जन्म को धारण करे। दूसरे जन्म को प्राप्त होता हुआ द्विज कहलाये। इसी कल्पना को गुरूकुल में यज्ञोपवीत के साथ आज भी ग्रहण करते हैं। वेद की यह अद्भुद विलक्षण कल्पना, जिसकी चर्चा विश्व के किसी भी धर्म अथवा धर्मग्रंथों में नहीं मिलती।

राष्ट्र का नाम :– वैदिक ग्रंथों में देश का नाम भरत-खण्ड के रूप में आया है तथा एशिया महा द्वीप को जम्बूद्वीप के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसका चलन पूजाओं से पूर्व लिये संकल्प में भी सिद्ध होता है। यथा "जम्बू द्वीपे, भरत-खण्डे।"

भरत :– भरत शब्द को लेकर आधुनिक विद्वानों में बहुत अधिक भ्रान्तियां हैं। वे शब्द को किसी व्यक्ति के नामान्तर मानते हैं। जबकि यह नितान्त असत्य है। भरत शब्द के नामान्तर बहुत से राजाओं, राजकुमारों, संत और ऋषि जनों के नाम भरत पड़े हैं, न कि इनमें से किसी के नाम के नामान्तर देश का नाम भरत-खण्ड हुआ है। भरत शब्द का अर्थ है, सबका भरण-पोषण करने वाला परमेश्वर ! सभी ग्रंथों में भरत को परमेश्वर के रूप में लिया गया है। चूंकि भरत अर्थात परमेश्वर घट-घट वासी है, इसलिए राष्ट्र का नाम भरतखण्ड पड़ा अर्थात परमेश्वर-खण्ड। सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सभी प्रकार की आदि मान्यताओं के अनुरूप ही देश का नाम भरतखण्ड ग्रहण किया गया था।

भारत:–राष्ट्र की संज्ञा भरतखण्ड होने के साथ ही नागरिकों की संज्ञा भारत मानी गयी थी। अर्थात भरत के पुत्र, परमेश्वर के पुत्र, मसीहा अथवा अवतार आदि-आदि। वेदों ने माना कि प्रत्येक जीवधारी को आत्मा उत्पन्न करता है। माता-पिता मात्र पुत्र को उत्पन्न करने वाले सांचे हैं, जिसमें परमेश्वर आत्मा अथवा आचार्य के रूप में यज्ञों के द्वारा अन्न को यथा जीव में ढालता है। इस प्रमाण से प्रत्येक व्यक्ति का एक ही पिता है। वह है "भरत" ! प्रत्येक नागरिक उसी का पुत्र है इसलिए भारत है। इस प्रकार आदिकालीन सभ्यता में जातीय संज्ञक नाम भारत ग्रहण किया गया है। कालान्तर में गुलामी के अन्तरालों में भारत के पर्यायवाची के रूप में हिन्दू शब्द प्रयोग में लाया जाने लगा। जातीय संज्ञक शब्द के रूप में हिन्दू शब्द का प्रयोग पौराणिक काल में भी नहीं मिलता है। पूर्व काल में भारत शब्द को ही जाति संज्ञक के रूप में ग्रहण किया गया है। पौराणिक काल के भी लम्बे काल के उपरान्त, विदेशियों के प्रभाव में आ जाने के बाद भी काफी समय के उपरान्त हिन्दू शब्द को भारत शब्द पर्यायवाची शब्द के रूप में ग्रहण किया गया है।

ईश्वर का स्थान :– आदि वैदिक ग्रन्थों में ईश्वर को घट-घट वासी आत्मा के रूप में ही दिखाया गया है। सम्पूर्ण वैदिक वांग्डमय में मनुष्य को सम्पूर्ण सचराचर का सूक्ष्म प्रतिरूप माना गया है। लोकों जैसे लोकों की कल्पना मनुष्य के शरीर में की गयी है। क्षीरसागर की कल्पना भी अनन्त आकाश के रूप में, मनुष्य के भीतर ही की गयी है। इस प्रकार अनन्त-व्यापी परमेश्वर को सचराचर मात्र में देखने की कल्पना आदि ग्रन्थों में मिलती है। इसी को मन्दिरों में, मूर्तियों के साथ भी दर्शाया

गया है। नाना देवी-देवताओं के मन्दिरों की कल्पना को साकार कर, नाना पशु-पक्षी तथा वृक्षों को उनके साथ दर्शा कर, सभी को सम्मानित किया गया है।

पुनर्जन्म तथा आवागमन :– आत्मा को अमर मानते हुए, उसके पुर्न-पुर्न योग माया से प्रकट होने की बात वैदिक वांङ्गमय तथा श्रीमद्भगवद् गीता में आयी है। जीव के पुनर्जन्म की बात भी व्यापक रूप से आदि-कालीम ग्रन्थों में मिलती है। प्रकृति को यदि मूल धर्म ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाये, तो पुनर्जन्म की कल्पना स्वयं सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भौतिक दृश्य पुर्न-पुर्न जन्म को प्राप्त होता रहता है। बूढ़े तन की राख पुनः अन्न, फल तथा वनस्पतियों में लौट जाती है। यदि पुनर्जन्म की बात न होती तो प्रकृति का स्वरूप कुछ और ही होता।

इसी प्रकार जीवन को पाठशाला के रूप में ग्रहण करते हुए तीन अवस्थाओं की कल्पना की गयी है। पास होगा तो मोक्ष को प्राप्त होगा। फेल होगा तो पुनः ८४ लाख योनियों को, ८४ लाख अध्यायों के रूप में यथा योनि में पढ़ना होगा। यदि थोड़े नम्बरों से रह गया तो अल्पकालिक पुनर्परीक्षा की भान्ति ही १२ योनियों के उपरान्त मनुष्य योनि को प्राप्त होगा। इसीलिए जब घर में बालक उत्पन्न होता है तो १२ जन्मों का प्रतीक, बारह दिनों का सूतक मनाया जाता है और वही व्यक्ति जब मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो उसमें एक दिन की शूद्रता का प्रतीक, एक दिन उन १२ दिनों में जोड़ कर, उसकी तेरहीं मनायी जाती है। जन्मकाल का शूद्र मृत्यु पर महा-शूद्र हो जाता है। चूंकि वह स्वयं को अपनी ही आत्म-ज्वाला में यज्ञ कर, द्विज स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सका, देवयान, शुक्लमार्ग की अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका, इसलिए अब उसे धूम्र-मार्ग से, पितृयान से गमन करने की बात सामने आती है। उसका पुत्र यजमान बनकर, पितृयान अर्थात चिता की लकड़ियों पर उसे यज्ञ करता है तथा कपाल क्रिया द्वारा जीव को शरीर से अलग करता है। दसवां पर्यन्त जीव कपाल क्रिया करने वाले की देह में वास करता हुआ, उसकी ही इन्द्रियों से गीता, गरुड़ पुराण, भागवत आदि का सेवन करता हुआ यथा प्रायश्चित करता हुआ, अगली योनि को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार की परम्पराओं का व्यापक चलन अभी तक समाज में मिलता है। ये सभी परम्परायें अध्यात्मिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत शिक्षा के रूप में भी ग्रहण की गयी हैं तथा जीवन रूपी पाठशाला का अनिवार्य अंग मानी गयी है।

ऋग्वेद में शब्दों का प्रयोग विशिष्ट प्रकार से किया गया है। अग्नि शब्द को पुराने भाष्यकारों ने कई रूपों में ग्रहण किया है। यथा अग्रणी आदि। अग्नि नित्य में स्थित, को भी पारिभाषिक रूप में कहा जा सकता है तथा अंग-अंग में निहित होना अर्थात व्याप्त होना। इस प्रमाण से अग्नि शब्द का भाव अंग-अंग में व्याप्त, ब्रम्ह ज्योति से तथा आत्मा से लिया जाना चाहिये। वेद में अग्नि सम्बोधन से ब्रम्ह ज्वाला, आत्मा तथा ईश्वर का भाव लिया गया है। इसी प्रकार पुरोहित शब्द व्यापक रूप से ग्रहण किया गया है। 'पुर', शरीर तथा लोकों को कहते हैं। शरीर तथा लोकों का हित चाहने वाले अर्थात परम ब्रम्हा के रूप में पुरोहित शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार ऋत्विजम् शब्द का प्रयोग देव लोक को जीतने वाले, भगवान महा विष्णु के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार लगभग सभी शब्दों का अर्थ इस भाष्य में आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

—सम्पादक

अब कुछ अन्तर्मन की।

महर्षि मधुच्छन्दा का यह ग्रन्थ आपके हाथों में है। वेद भाष्य में इस सन्यासी ने जो कुछ दिया है, उसका पूर्वावलोकन गहन समाधियों में किया है। समाधिस्थ होकर अन्तरालों से लिये गये अर्थ को, उपरान्त में निरुक्त, निघन्टू तथा अमर-कोष की मर्यादा में भी सिद्ध करने के उपरान्त, ऋचाओं के अर्थ का प्रकाशन किया है। यथाशक्ती सभी शब्दों का अर्थ निरुक्त की मर्यादा में तथा अमर-कोष में भी दिया है। सभी शब्दों की व्यापक परिभाषाओं को देने से ग्रन्थ भारी तथा बोझिल हो जाता। पाठकों की उत्कण्ठा का भी विशेष ध्यान रखते हुए, संक्षिप्त भाष्य को प्रस्तुत कर रहे हैं।

मधुच्छन्दा के दर्श-यज्ञ के द्वारा निश्चित रूप से मनुष्य जीवन को ब्रम्ह ज्योतियों में परिणित कर, जीवन के दूसरे धरातल में प्रवेश कर सकता है। एक ऐसे ज्योतिर्मय जीवन को प्राप्त कर सकता है, जो अनन्त है तथा अकल्पनीय हैं।

इस ग्रन्थ को गुरू मुख होकर, विधिवत् ग्रहण करने से निश्चित रूप से ब्रम्ह-ज्योतियों में ब्रम्हाण्ड से प्रकट होने की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यह ग्रन्थ आप सब के लिए मंगलमय हो आप सब ज्योतिस्वरुप हो। सत्य की पूर्ण पराकाष्ठा तथा नित्य आत्म अवस्था को प्राप्त हों।

नारायण हरि !

श्री स्वामी सनातन श्री

सनातन-वाणी

प्रथम मण्डल, प्रथम सूक्त

भगवान सूर्य उत्तरायण हुए, वेदव्यास का तप पूर्ण हुआ। नेत्र खुले और सन्मुख भगवान गणपति खड़े थे। वेदव्यास ने गणपति की स्तुति एवं अर्चना की। उपरान्त गणपति ने अपने आवाहन का कारण पूछा।

"भगवन्! परमेश्वर के सृष्टि, प्रलय मोक्ष तथा धर्म आदि गूढ़ तत्वों का स्पष्टीकरण चाहता हूँ। महाप्रभु! प्रत्येक जीव के मन में प्रश्न उठता है कि मैं उत्पन्न क्यों हुआ? मैं मरता क्यों हूँ? मैं मरकर कहां जाता हूँ? मेरा जन्म किसलिए हुआ? परमेश्वर क्या है तथा मैं क्या हूँ?"

भगवान गणपति ने समझाया, "क्षीरसागर में शेष-शयन करते हुए महाविष्णु के समक्ष देवताओं और ऋषियों ने प्रकट होकर सृष्टा की स्तुति की और उपरान्त प्रार्थना किया कि महाप्रभु! लोक-लोकान्तरों में अज्ञान व्याप्त होता जा रहा है। सृष्टि-लीला का रहस्य लुप्तप्राय हो चुका है। जीव अज्ञान में भटक रहे हैं! पाप की छाया सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य स्वयं को निज धर्म को तथा जीवन के लक्ष्य को नहीं जान पा रहा है। पीड़ा, अभाव, अनिश्चिय एवं पाप वृतियां निरन्तर बढ़ रही हैं।

हे त्रैलोकेश्वर! हमने भी दीर्घकाल से आप की लीला का आनन्द नहीं लिया है। आपसे प्रार्थना है कि धरती के भार को कम करने हेतु, सृष्टि की उत्पत्ति, धारण और प्रलय के रहस्यों के अनावरण हेतु तथा मोक्ष मार्ग और धर्म के स्पष्टीकरण हेतु आप भूमण्डल पर अवतरित हों।"

सृष्टा ने कहा, "हे देवगण एवं महान ऋषियों! आप सब सृष्टि यज्ञ का आवाहन करो। यज्ञों द्वारा उत्पन्न, नाना देहों को धारण कर भूमण्डल पर लीला का आनन्द लेने हेतु अलौकिक जन्म धारण करो। उसी यज्ञ के द्वारा मैं भी देह धारण कर प्रकट हो जाऊंगा तब आप मेरी लीला का आनन्द ले सकेंगे। भक्तगण लीला के रहस्यों को जानकर जीवन के लक्ष्य का निर्धारण कर सकेंगे। विद्वान उत्पत्ति और प्रलय के रहस्यों को लीला द्वारा जानकर, मोक्ष मार्ग को स्पष्ट कर सकेंगे! हे देवगण! आप सब अभिशप्त होकर पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये प्रस्थान करें!

अभिशप्त होकर ही जन्म धारण करें ? ऐसा क्यों ?

इसलिए कि इसके बिना जन्म भी तो सम्भव नहीं है। पानी के जल पर तैर रही गेंद को तलहटी पर डुबाकर लाने हेतु उसे किसी पत्थर अथवा भारी डूबने वाली वस्तु के साथ बान्धना ही पड़ेगा। उसी प्रकार मृत्युलोक में, माया रूपी सागर की तलहटी पर जन्म धारण करने हेतु, पवित्र देवताओं को भी अभिशाप रूपी पत्थर का सहारा लेना पड़ेगा।

महाविष्णु को अभिशप्त होकर श्रीराम रूप में अवतरित होना ! वसु प्रभास का भीष्म रूप में अभिशप्त होकर आना। काल का अभिशप्त होकर धृतराष्ट्र के रूप में जन्म लेना ! यम का अभिशप्त होकर विदुर के रूप में जन्म लेना आदि !

मेरी ही अभिशप्त अतृप्तियाँ मेरे पुनः जन्म का कारण बनती है ! जो पूर्व जन्म की अतृप्तियों रूपी पाप से अभिशप्त हैं। उन्हे अपनी अतृप्तियों के लिए बारम्बार जन्म लेना पड़ता है। जिसने अतृप्तियां ही मिटा दीं, जो आत्मा में ही पूर्ण तृप्त हो गया, वह लौट क्षीर सागर गया ! पुनः अपनी देव योनी को प्राप्त हुआ। अतृप्तियाँ अभिशाप है। पूर्ण तृप्तावस्था ही मोक्ष की राह है।

देवों ने प्रार्थना की, "भगवन् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है परन्तु हे देवाधिदेव ! आपकी माया बहुत गहन है। मृत्युलोक में, जीव रूप में प्रकट हुए, हम सब माया के द्वारा भटका दिये जावेंगे। हमारा देवज्ञान तो हमारे साथ जावेगा नहीं ; क्योंकि गर्भ में प्रवेश करते ही पिछला सम्पूर्ण ज्ञान नष्ट हो जावेगा। ऐसी स्थिति में निश्चय ही हम माया द्वारा भ्रमित हो जावेंगे। हमारा उद्धार कैसे होगा ? हम पुनः अपने स्वरुप को किस प्रकार प्राप्त होंगे ?

पुरुषोत्तम ने कहा, 'आप भयभीत न हों। जब आप जीव रूप में प्रकट होंगे, तब मैं प्रत्येक के साथ, आत्मा होकर, प्रत्येक देह में अवतरित होऊँगा। जब भी माया द्वारा आप भटकाये जावें, आप मुझसे (आत्मा) अद्वैत कर पुनः क्षीरसागर लौट सकेंगे। आत्मा मेरा रूप है ! मैं ही हूँ ! प्रत्येक शरीर में, मैं आत्मा के रूप में योग माया से प्रकट होता हूँ।'

देवों ने कहा, 'भगवन् ! इस देवयोनि में आपके नित्य समीप्य में रहते हुए भी हम माया से भयभीत रहते हैं ; तब, जब जीव रूप में हम प्रकट होंगे तो आप

से (आत्मा) अद्वैत करना तो अति कठिन होगा ? सारी इन्द्रियों के बर्हिमुखी होने से जीव तो बाहर ही बाहर भटकेगा, आप तक पहुँचेगा कैसे ? हे सनातन! आपकी माया हमें बाहर से बांध ले जावेगी ! आप तो भीतर बैठे रहेंगे !'

'देवतागण' आप धैर्य धारण करें', महाविष्णु ने कहा, 'मैं बारम्बार नाना अवतार लेकर नाना योनियों में प्रकट होकर, इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मा की ओर आप सबको निरन्तर प्रेरित करता रहूँगा। इस प्रकार मैं आत्मा होकर आपके साथ रहूँगा तथा वाह्य रूप से भी लीलाओं द्वारा आपको आपके अन्तरात्मा से जुड़ने का ज्ञान प्रदान करूँगा ! मैं ही ब्रम्हा बन ज्ञान की लीला करूँगा ! वेदव्यास बन लुप्त हो गये वेद प्रकट करूँगा ! मैं ही गणपति बन ज्ञान का लेखन करुंगा ! पराशर बन तप का मार्ग प्रशस्त करूँगा ! श्रीराम और श्रीकृष्ण के रूप में लीलाओं द्वारा मोक्ष मार्ग के ज्ञान को स्पष्ट करूँगा ! कपिल, वसिष्ठ, विश्वामित्र, देवर्षि नारद, महामुनि याज्ञवल्क आदि नाना रूपों में अंशावतार धारण करता सत्य ज्ञान का पुनः पुनः प्रतिपादन करूँगा !

मैं ही बनके महेश, महाशिव, घनघोर तप, साधना एवं अतिशय कल्याण के मार्ग को स्पष्ट करूँगा। बारम्बार तुम्हें आत्माद्वैत के लिए प्रेरित करूँगा ! इसलिए हे देवता गण ! आप भयभीत न हो !

"हे महाविष्णु ! जीव योनियों से हमारा छुटकारा कैसे होगा ?"

"जिस सृष्टि यज्ञ द्वारा तुम्हारा मृत्युलोक की योनियों में जन्म होगा, उसी यज्ञ के द्वारा तुम पुनः देवलोक लौट सकोगे।" महा विष्णु ने कहा !

"जीव रूप में यज्ञ का ज्ञान तो नष्ट हो जायेगा, उस ज्ञान को पुनः प्राप्ति कैसे होगी ?"––ऋषियों ने पूछा।

"प्रत्येक चतुर्युगो के प्रत्येक युग में मैं अवतार लीला करूँगा। हे देवों ! आप भयभीत न हों। पृथ्वी पर व्याप्त हो गये पाप को आप लोग स्वयं ओढ़ लें। भटकते मानव समूहों के कल्याण हेतु उनके पापों को आप सब स्वीकार करें। पाप से स्वयं को अभिशप्त कर, मृत्युलोक में जन्म धारण हेतु गमन करें। ऋषिगण सृष्टियज्ञ का आवाहन करें······" महाविष्णु ने उत्तर दिया।

इस प्रकार "हे कृष्ण द्वैयायन !" भगवान गणपति ने कहा, "देवता ही जीव रूप में नाना योनियों में प्रकट हुए । पृथ्वी पर व्याप्त पाप से उन्होंने स्वयं को अभि-शप्त किया और मृत्यु लोक में नाना योनियों में विचरते जीवों के उद्धार हेतु, जीव बन उत्पन्न हो गये ।

जीव ही देव तथा जीव ही दानव है। जीव ही सुर है तथा भटककर यही असुर है। आत्मा ही सृष्टा है जो घट-घट वासी है। जीव जब आत्मा से अद्वैत करे तो देव है और जब भौतिक वासनाओं से अद्वैत करे तो दानव है ।

"हे कृष्ण द्वैपायन! तुम्हीं इस युग के वेदव्यास हो । यज्ञ का आवाहन करो । यज्ञ द्वारा सृष्टा को प्रकट करो । वे तुम्हें सृष्टि रहस्यों का ज्ञान बतावेंगे ।"

वेदव्यास ने भगवान गणपति की स्तुति की तथा आग्रह किया कि "हे भगवन्!" आप यज्ञ की ज्वालाओं से मुखरित होती देववाणी को लिपिबद्ध करें क्योंकि योग में स्थापित रहने से मैं लिपिबद्ध न कर सकूंगा ।

"तथास्तु !" गणपति मुस्कराये ।

घनघोर वन में, हिमालय की सुरम्य गोद में यज्ञशाला का निर्माण हुआ, पीठिकाएं स्थापित हुई । वेदव्यास यज्ञशाला में योगासन पर विराजमान हुए और गणपति लेखन सामग्री लेकर यथा आसन पर आ विराजे । वेदव्यास समाधिस्थ हो गए । उनके हृदय से तीव्र ज्वाला (औरस अग्नि) प्रकट होकर यज्ञ में स्थिर हो गई। यज्ञ प्रकट हो गया । वेदों के प्रकट करने का संकल्प पूर्ण होने लगा । वेदव्यास धन्य हुए। सबसे पहले स्वयं यज्ञ भगवान यज्ञ में प्रकट हुए । वेदव्यास ने उन्हें प्रणाम किया और प्रार्थना की । यज्ञ भगवान, ने उन्हें आशीर्वाद दिया तथा अनुमति दी कि वेदव्यास प्रश्न करें ।

उत्पत्ति और प्रलय कैसे होती है ?	यज्ञ के द्वारा !
उत्पत्ति और प्रलय किस हेतु होती है ?	यज्ञ हेतु !
उत्पत्ति और प्रलय कौन करता है ?	यज्ञ ! यज्ञ ही परमेश्वर है ।
जीवन का संचार किससे होता है ?	यज्ञ से ! आत्मा ही यज्ञ है, सो ही परमेश्वर है ।

जीव मनुष्य योनि में क्यों आया ? — यज्ञ तथा ईश्वरीय लीला के दर्शन हेतु!

मनुष्य के द्वारा यज्ञ करने तथा जानने से क्या उपलब्ध होगा ? — यज्ञ ! मनुष्य यज्ञ से अद्वैत कर यज्ञ अर्थात् ईश्वर होगा !

मनुष्य योनि का मात्र लक्ष्य क्या है ? — यज्ञ ! यज्ञ से अद्वैत कर स्वयंभू होना!

मनुष्य यज्ञ से अद्वैत कैसे करे ? — योग द्वारा !

यज्ञ, योग तथा सृष्टि का रहस्य क्या है?

तुम्हारे इन प्रश्नों का उत्तर सृष्टि यज्ञ के ऋषिगण देंगे। मन्त्रदृष्टा ऋषि, जिन्होंने सृष्टियज्ञ का आवाहन किया था तथा जिनका वह यज्ञ निरन्तर है, वे प्रकट होकर ही यज्ञ के रहस्यों को स्पष्ट करेंगे।

ऐसा कहकर सृष्टा, यज्ञ भगवान, यज्ञ में अन्तर्ध्यान हो गये। गणपति और वेदव्यास ने उन्हें प्रणाम किया।

उसके उपरान्त बारी-बारी से यज्ञ की ज्वालाओं में मन्त्रदृष्टा ऋषि प्रकट हुए और उन्होंने सृष्टा द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान को वेद के रूप में ज्वालाओं से प्रकट किया।

जीवन यज्ञः—आचार्य=आत्मा। उपाचार्य=प्राण वायु। यज्ञ की ज्वाला=ब्रह्म ज्वाला, आत्माग्नि। समिधाः=शरीर ! यजमान=जीव !

सबसे पहले मधुच्छन्दा ऋषि ने, सृष्टि और मोक्ष के रहस्य को स्पष्ट किया। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की नौ ऋचाओं में उन्होंने स्पष्ट किया कि सृष्टि की उत्पत्ति रूपी यज्ञ में परमेश्वर स्वयं ऋत्विक् अर्थात् यज्ञ का आचार्य बना। परमेश्वर यज्ञ का आचार्य तो बना ही, स्वयं यज्ञ भी बना। आज भी परमेश्वर स्वयं आत्मा होकर यज्ञ का आचार्य भी है और यज्ञ भी। वही सम्पूर्ण सचराचर में यज्ञ अर्थात आत्मा होकर प्रतिष्ठित है। वही घट-घट वासी आत्मा होकर प्रत्येक जीवधारी के शरीर में भोजन को (ब्रह्मा-विष्णु-महेश, धारक-सृजक-संहारक) यज्ञों के द्वारा रक्त-मांस-हड्डी, सांसों, धड़कनों, रोशनी, विचार आदि में बदल रहा है। आत्मा ही यज्ञ है। आत्मा ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी परमेश्वर है। आत्मा ही ऋत्विक् अर्थात् यज्ञ को करने वाला प्रथम आचार्य है।

दूसरे सूक्त में ऋषि ने बताया कि वायु ही सम्पूर्ण यज्ञों में "अच्छावाक" अर्थात् उपऋत्विक अर्थात् उपाचार्य बना। वही आज भी सम्पूर्ण जीवधारियों में प्राण वायु अर्थात् प्राण होकर प्रतिष्ठित है।

तीसरे सूक्त में आदि-शक्ति यज्ञ की ज्वाला बनी ।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा हुई तथा आज भी निरन्तर हो रहो है । भस्मी और सड़ी हुई मिट्टी आज भी इसी यज्ञ के द्वारा नाना प्रकार के फलों-फूलों में लौटती है । वही वनस्पतियां पुन: जीवों के शरीर में यज्ञ होकर रक्त-मांस में बदल, उनकी सन्तानों का रूप धारण करती हैं ।

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् । होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥१.१.१.

स्तुति करें रुद्र की, ब्रम्हा की, विष्णु की ! यज्ञ के होतार हैं वे ! कर रहे न्यौछावर जीवन की स्वर्णमयी उपलब्धियां ! अद्वैत करें !

(अग्निम्) हे अग्नियों के अधिपति ! हे प्रलयंकर रूद्र ! हे पशुपताग्नियों के देवता (पुरोहितं) हे सम्पूर्ण ब्रम्हाण्डों को तत्व रूप प्रकट करने वाले ब्रम्हा ! हे ज्ञान रूप परमेश्वर ! (ऋत्विजम्) हे सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करने वाले ! हे सृजन स्वरूप ! हे जीवनदाता, विष्णु ! (यज्ञस्य देवम्) तुम्हीं तो यज्ञ के अधिष्ठित देव हो । तुम्हीं तो यज्ञ हो । धारक रूप ब्रम्हा हो, सृजक रूप विष्णु हो और संहार रूप महेश हो । (होतारम्) यज्ञ को होता अर्थात् ऋत्विज हो ! न्यौछावर करने वाले हो । (रत्नधातमम्) जीवन की स्वर्णमयी उपलब्धियाँ ! अमूल्य क्षण ! तुम्हीं तो ॐ रूप तीन अक्षर हो !

अ = अस्तित्व, तत्व, ज्ञान, धारक, ब्रम्हा ! प्रकृति सरस्वती ज्ञान ।

उ = उत्पत्ति, सृजन, उत्थान विष्णु ! प्रकृति लक्ष्मी उत्थान ।

म = मृत्यु, मृत्युंजय, महेश! प्रकृति, आदि-शक्ति, ज्वाला, दुर्गा, महाप्रलय ।

तुम्हीं आत्मा होकर बने हो यज्ञ ! करते धारण, सृजन और संहार ! हे घट-घट वासी राम और कृष्ण ! (ईले) हम स्तुति करते हैं तुम्हारी ! स्तुति का अर्थ क्या है ? जानना, पहचानना, धारण करना, अनुसरण करना, अनुकरण करना तथा अद्वैत हो जाना । इसको कहते हैं, ईले! (होतारं रत्नधातमम्) तुम्हीं तो निष्काम भाव से सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट कर रहे हो । तुम्हीं तो जीवन के बहुमूल्य रत्नमय क्षण निष्काम भाव से हमें प्रदान करते हो ? हर सांस धड़कन, अन्न, फल और फूल तुम्हीं तो यज्ञ के द्वारा न्योछावर कर रहे हो हम पर ! हे महाविष्णु ! हे महादेव! हे परम्ब्रम्ह ! घट-घट वासी आत्मा ! हे जीव-जीव के यज्ञ श्रेष्ठ ! हम तुम्हारी

स्तुति करें ! तुम्हें जानें पहचानें, तुम्हारी राह का अनुकरण करें और फिर तुमसे अद्वैत करें। आत्ममय हों ! खिलौने से खिलाड़ी बनें ! उपासक से उपास्य हों ! आत्मा से योग करें। बुद्धि और आत्मा के द्वैत को योग द्वारा अद्वैत करें। सृष्टा को जान कर सृष्टा से अद्वैत करके, सृष्टा बनें। भक्त कौन ? जो कभी भी आत्मा से विभक्त न हो सके...... ।

धारण, सृजन और संहार हमारे जन्म की कहानी है। रे जीव। सदा जीवन की राह में यज्ञ को हर क्षण में स्थान दे। धारण, सृजन और संहार के देवता होकर, आत्मा ने तुम्हें मनुष्य का दुर्लभ तन प्रदान किया है। जीवन के बहुमूल्य क्षणों को आत्मा की राह दें। आत्मस्थ हो। स्वयं को पहचान। धारण, सृजन और संहार के इन रहस्यों को जानता हुआ इस सामर्थ्य को प्राप्त हो। यही तेरे जीवन का मूल उद्देश्य है। मनुष्य के रूप को प्राप्त होकर भी यदि तू इस राह को न जान पाया, तो फिर तू कब जानेगा ? बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा उन्नत बौद्धिकता का स्तर, केवल मनुष्य योनि में सम्भव है। जीवन के महत्व को जान ! प्रभु आत्मा होकर तुम्हारे हर ओर सर्वत्र, यज्ञों के द्वारा जड़ता को सुगन्ध में, वनस्पतियों में, लौटा रहे हैं। पुनः वनस्पतियों को नाना जीवों के रूप में प्रकट कर रहे हैं। जीवन की इस पाठशाला को पढ़। धारण, सृजन और संहार के रहस्यों को जान ! आत्मा से अद्वैत कर। सम्पूर्ण सचराचर का भरण-पोषण करने वाला "भरत" अर्थात् परमेश्वर तेरे अन्तर में व्याप्त है। उसका पुत्र होने से तू "भारत" है, अर्थात् ईश्वर का बेटा है, अवतार है। पिता के द्वारा दिये जा रहे इस अनुपम ज्ञान को जीवन के प्रत्येक क्षण में धारण कर। यज्ञ को जीवन की राह बना "भरत" का पुत्र "भारत" नाम सार्थक कर।

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥१.१.२.

हे यज्ञ! पूर्व काल में भी, जिन साधकों ने तुम्हारी नित्य नई होती रश्मियों में स्वयं को यज्ञ किया, विसर्जित किया ! वे अमर देवता कहाये ! देवत्व का आलिंगन पाये।

(अग्निः) हे आत्मा ! यज्ञ के अधिष्ठित देव ! अग्नियों के अधिपति ! (पूर्वेभिः) इससे पूर्व भी, अनन्त काल से (ऋषिभिः) जिन साधकों ने, तपस्वियों ने,

जितेन्द्रिय, आत्माग्नियों ने (ईडयो) अद्वैत किया (नूतनैरूत) तुम्हारी अमर नित्य नई होती रश्मियों का संयोग किया। ब्रम्ह ज्वालाओं में जो समर्पित हो गये। स्वयं को यज्ञ करके, यज्ञ से अद्वैत हो, यज्ञ स्वरूप हो गये (स देवाँ एहवक्षति) वे ही देवत्व को पाये, वे ही अमरत्व का आलिंगन कर सके। धरती के अमर देवता कहलाये। देवत्व को पाकर वे देवता हो गये।

जीवन के क्षणों को तथा प्रकृति द्वारा दिये शरीर को भी जो आत्मस्थ होकर आत्मा को समर्पित होकर, सचराचर के हित में स्वयं यज्ञ हो गये। जो इन्द्रियों को जीतकर, संकीर्ण वासनाओं से ऊपर उठते हुए सर्वव्यापी परमेश्वर की भाँति ही सबमें व्याप्त होकर जिये, वे ही धन्य हुए! धरती के देवता कहलाये। रोम–रोम में जिनके भरत बसे, वे ही महान ऋषि हो गये। वे सत्यनिष्ठ 'भारत' आत्मा से अद्वैत कर "ब्रम्ह ज्वालाओं के अर्थात आत्म अग्नियों में, जीवन के प्रत्येक क्षण को यज्ञ करते हुए धरती के देवता बने! देवता कहलाये!

'ईश्वर" शब्द ऐश्वर्य से बना है। जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे स्वयं को मिटाकर, उसे कहते हैं "ईश्वर"। आत्मा की भांति ही जल! आज मिटा दे स्वयं को। सबके होकर जियें। सबके लिये जियें! जीवन को प्रभु की राह दें! अपने अन्तर में ब्रम्ह ज्वालाओं को प्रलयंकर बना भीतर, बाहर अपने प्रभु की छवि का दर्शन करें। भीतर आत्मा रूपी यज्ञ में जलता चल! बाहर उसके बनाये सचराचर को आत्मा की भांति ही निष्काम सेवाओं में धारण कर! जीवन को यज्ञ की अमर राह दे। अमर हो!

दो मार्ग हैं तेरे सामने! एक मार्ग सकाम है, धूम्र मार्ग है, जीवन का दक्षिणायन है। यह राह है सकामियों की, संसारिकताओं में कसे विषयान्धों की। पेड़ से टूटकर गिरे फल की तरह, सड़ते–गलते जीवन के दुखद अभिशप्त क्षणों की तेरी ही आसक्तियां! भ्रान्तियाँ! बन के पुत्र, तुझे उन्हीं पेड़ों की लकड़ियों पर अग्नि दें! जिन फलों से कभी बना था तू। यह राह है भटकाव की! अज्ञान, असत्य आवागमन के दुखते और रिसते क्षण! कैंसर के फोड़े की भांति ही रिसते! जीवन की पीड़ाओं के अभिशप्त क्षण! अतृप्ति, अभाव, क्रोध, प्रतिशोध, अन्याय से लिपटती मनोवृत्तियाँ! यह राह है उसकी, जिसका, अन्त पुनः-पुनः भटकाव है।

एक राह है सुगन्ध भरी ! यज्ञ की ज्वालाओं से उठता सुगन्धित धुआ ! मधुर मंगल ध्वनि और प्रकृति को ज्योतिमय बनाने वाली आत्मा की राह है। शुक्ल मार्ग है वह ! देवयान है जिसका ! उत्तरायण पर्व है। राह है भारत की ! ऋषि की ! साधक की ! शरीर को देवालय बना। देव रूप पुजारी हो ! आत्मा मूर्ति में खो जा ! प्रत्येक क्षण को उसी में ढाल दे, रे जीव ! हर क्षण सुखद अमृतमय हो। प्रत्येक होंठ की मुस्कराहट बने तू। हर आंख की रोशनी हो जाये ! धड़कते दिलों की चाहत हो ! धरती की सुगन्ध बनो ! आत्मस्थ हो देवयान अर्थात आत्म ज्ञानसे तू गमन कर जाये ! तत्त्वमसि ! धारणा हो तेरी ! तेजोऽसि ! ध्यान हो ! एकोब्रम्ह द्वितीयो नास्ति ! समाधि बने तेरे जीवन की। अहम् ब्रम्हास्मि ! तेरे जीवन का यज्ञ हो, फिर सोहम् ! का नाद करता तू अनन्त हो, देवता कहलाये।

अग्निनां रयिमंश्नवत् पोषमेव दिवेदिंवे। यशसं वीरवंत्तमम्॥ १.१.३.

तुम्हारी अग्नियों में शीघ्रता से अर्पित हो गये जो ! नित्य रश्मियों का पोषण पाकर नित्य हुये वो ! वे ही यशस्वी और वीर हैं ! धन्य हैं वे !

(अग्निन:) आत्म ज्वालाओं, ब्रम्ह अग्नियों में (रयिम्) शीघ्रता से आकर व्यापकता से (अश्नवत्) व्याप्त हो गये जो (पोषमेव) पुष्ट हुये जो (दिवे-दिवे) क्षण-क्षण, प्रत्येक क्षण में (यशसं वीरवत्तमम्) वे ही यशस्वी, वे वीर हैं, अमर रश्मियों में यज्ञ हो अमर हो गये।

जल गये जो सामग्रीवत् अपने ही अन्तर में, अपनी ही आत्म ज्वालाओं में। जला दिये सब नाते–रिश्ते। जल गयीं इच्छायें सारी। होम कर दिया सर्वस्व अपना और हो गये अकिंचन। एक आत्मा, एक ब्रम्ह का सहारा। होकर ब्रम्ह–दण्डी, त्याग दिये जिन्होंने सांसारिकताओं के दण्ड और सहारे। वे तपोनिष्ठ आत्म ज्ञानी ! वे योगी, तपस्वी वे यशस्वी और वीर हैं। जो जीत पाये जीवन के संग्राम को ! अमरत्व की विजय श्री को प्राप्त हो गये, देवलोक में प्रवेश हुआ उनका।

वेद ने पूछा, "कैसे होते हैं यशस्वी और वीर" ?

ऋचा ने उत्तर दिया, जो त्यागकर सब कुछ, अकिंचन होकर, आत्म दण्डी हो गये"। यश और वीरता की ये कैसी परिभाषा है ? संसार तो उन्हें ही वीर और

यशस्वी जानता है, जिनके पास व्यापक भौतिक ऐश्वर्य हों, सेवाएं, नौकर–चाकर आदि हों। राज्य और ऐश्वर्य हो, वे ही यशस्वी एवं वीर होते हैं।

श्रुति ने कहा, वे वीर कैसे हो सकते हैं ? एक लंगड़े आदमी को एक लाठी का सहारा मिल जाये तो वह चल लेता है। टांग कट गयी हो तो ऐसा अपंग भी बैसाखियों के सहारे चल लेता है। यहाँ तक कि मुर्दा भी चार बांसों पर चल ही देता है। परन्तु, जिन्हें दुकानों, मकानों, नातेदारों, रिश्तेदारों, बैंक और साम्राज्यों की लाठियाँ चाहिये। वे यशस्वी और वीर कैसे बन सकते हैं ? उनकी स्थिति तो दशहरे के रावण जैसी है, जो रस्सियों और बांसों के सहारे खड़ा हुआ है। एक सहारा हिल जाये तो रावण का पुतला गिर जाता है। इसके जीवन में नाना सहारों की एक भी सहारा गिर जाए तो यह सदमा खाकर अस्पताल पहुँच जाता है। ये कैसे यशस्वी और वीर हो सकते हैं? जो जड़, भौतिकताओं से सहारा मांगते हैं ?

वे ही वीर यशस्वी हैं, जिन्होंने जला दी सांसारिकताएँ सारी, जिनकी जल गयीं स्मृतियां तमाम। हो गये जो अकिंचन, आत्म-दण्डी ! एक आत्म-दण्ड के सहारे ! पुष्ट हुए तो अपनी ही आत्म ज्वालाओं में। वे ही वीर और यशस्वी हैं। वे ही पूजा के अधिकारी हैं। उन्हें ही वेद ने विजेता कहा है।

आज हम बड़े आदमी होने के लिए एक बड़ी डिग्री, एक बड़ा पद, बड़े मकान और बड़ी गाड़ियों की कामना करते हैं। हम ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि हम इनमें ही अपना बड़प्पन सोचते हैं। ये सब नहीं हैं तो हम बड़े नहीं हो सकते ? अर्थात् हम अपने में इतने हीन और घटिया हैं, कि सारा बड़प्पन हममें न होकर इन भौतिकताओं में है।

जिन्होंने अपनी ही आत्मा में बड़प्पन ढूंढा। उसे जीवन की राह बनाया। जो आत्मस्थ होकर जिये। जो आत्मस्थ होकर ईश्वर की भांति प्राणी मात्र के हित में समर्पित होकर जिये। वही यशस्वी और वीर हैं। परमेश्वर बाग का पिता है। आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर को बना रहा है। मैं बेटा हूँ उसका, बाग का माली हूँ। वह बाग को बना रहा है। मैं बाग का माली बन उसे संवारता रहूँ। यही मेरी राह है। ईश्वर रूपी अग्नियों में मेरा हर क्षण पल रहा है। पुष्ट हो रहा है। आत्मा

ही मेरा पोषक है। मुझे आत्मा रूपी दण्ड के सहारे ही जीना है। आत्मा के लिए ही जीना है। क्षण उसने दिये हैं। प्रत्येक क्षण को उसके लिए ही जीना है। यही वीर और यशस्वी का मार्ग है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥१.१.४.

हे अग्ने ! जिस यज्ञ अमर में व्याप्त है सचराचर सम्पूर्ण ! जानता है जो ! चल देता देवत्व में मिलने !

(अग्ने) हे आत्मा (यं) जिस (यज्ञम्) यज्ञ (अध्वरं) कभी विनाश न होने वाले अर्थात अमर (विश्वतः) सम्पूर्ण क्षण भंगुर विश्व (परिभूरसि) व्यापकता से उत्पन्न होता है। अर्थात हे आत्मा ! हे यज्ञ ! अमर रश्मियों को उत्पन्न करने वाले यज्ञ की ज्वालाओं से सम्पूर्ण सचराचर को उत्पन्न करने वाले उस यज्ञ को, जिससे सम्पूर्ण सचराचर निरन्तर प्रकट हो रहा है। जो उस यज्ञ में स्वयं को व्याप्त करता है। [स] वह [इत्] इस प्रकार [देवेषु] परमेश्वर में [गच्छति] जाता है, अर्थात व्याप्त होता है। हे आत्मा ! हे यज्ञ ! जिसने तेरे सत्य स्वरुप को पाया ! तेरे स्वरूप को पहचान, जो खो गया तुझमें ही ! वही ईश्वर को प्राप्त हुआ। वह यशस्वी वीर ही वन्दनीय है।

परमेश्वर ही आत्मा होकर यज्ञ के अधिष्ठित देव हैं, वे ही ऋत्विज हैं। प्राण वायु ही यज्ञ का उपाचार्य हैं। ब्रम्हे ज्वालायें अर्थात आत्मा रूपी अग्नियां ही यज्ञ की ज्वाला हैं। मेरा तन ही सामग्री हैं। जो ऐसी ही यज्ञ की ज्वालाओं से प्रकट होता है। जिसे पुनः सामग्री बन, ऐसी ही यज्ञाग्नि में व्याप्त होना है। जीव रूप, मैं ही यजमान हूँ। रे यजमान ! शरीर रूपी यज्ञशाला में, आचार्य के रूप में पवित्र आत्मा प्रकट हैं। प्राण वायु भी उपाचार्य होकर जीवन रूपी ज्वालाओं में प्राणों का संचार कर रहा हैं। जाग रे जीव ! बन यजमान ! जला स्वयं को आत्मग्नियों की पवित्र ज्वालाओं में ! अहो ! रोम-रोम मेरा जले ! बन सामग्री मेरी ही आत्मग्नियों में यज्ञ होता जाए। मेरा तन, अणु-अणु, बन सामग्री मेरे ही अन्तर में जले। यज्ञ की समग्री बने ! जीवन के प्रत्येक क्षण को बना कर सामग्री ब्रम्ह ज्वालाओं में स्वयं को जलाता चलूँ ! प्रत्येक क्षण आत्ममय हो ! गोविन्दमय हो ! हर और वे ही आत्मा होकर यज्ञ हैं ! यज्ञ की ज्वाला हैं ! यज्ञ के आचार्य और उपाचार्य हैं! उनसे ही ये जीव रुपी यजमान भी प्रकट हो रहा है। रे यजमान झूम के झुक ! खो जा, डूब जा, मिटा दे स्वयं को ! यज्ञ की बेला है यज्ञ के पुनीत क्षण हैं।

असत्य और अज्ञान की कोरी सांसारिकताओं में कितना लुटा हुआ है ? बर्तनों को मैं माता-पिता जानता था । बर्तनों से जुड़ा संसार ही मेरा संसार था ! मुझे बनाने वाला हलवाई कौन था ? इससे सदा, सर्वदा अनभिज्ञ रहा ! मैं, मेरे और तेरे, अपने और पराये ! मित्र और शत्रु, बस इसी असत्य, अज्ञान और मिथ्याभिमान में जीवन के स्वर्णिम क्षणों को गवांता रहा ! अंजाने ही, अपनी ही लकीरों को, अपनी ही हथेलियों से मिटाता रहा! वे जगत के नियंता, सचराचर के स्वामी, मेरे इस भोले अज्ञान और मिथ्याभिमान को सदा क्षमा करते रहे ! जीवन के अमृतमय क्षण आत्मा होकर, परमेश्वर, प्रतिक्षण बनाते रहे ! असत्य, अज्ञान की अंधता में विषयान्ध होकर मैं उन क्षणों को मिटाता रहा । अमृत को जीवन के रेगिस्तानों में छितराता रहा और सांसारिकताओं के जहर को उपलब्धियां मानकर बटोरता रहा ! परम पुनीत ! परम पवित्र! परमेश्वर! फिर भी मुझे जीवन के क्षण देते रहे! मेरी मूर्खता, मोहान्धता, मिथ्याभिमान और विषयान्धता को उदारता पूर्वक क्षमा करते रहे ! सर्वव्यापी पिता ने मेरी संकीर्णता का कभी भी भान न लिया ! महान, दयालु ने मुझे सदा क्षमा ही किया ! यज्ञ के द्वारा वे बारम्बार मुझे भस्मी से फलों में तथा फल और अन्न से देह रूपी बर्तनों में यज्ञ कर यथा संतति में लौटाते रहे ! मैं स्वयं को भरमाता रहा, मिटाता रहा और मेरे प्रभु मुझे निरन्तर सजाते और संवारते रहे ! प्रत्येक क्षण यज्ञ से प्रकट हो रहा था और उस यज्ञ से मैं सदा अनभिज्ञ रहा ।

हे पवित्र मधुच्छन्दा ! विष को भी अमृत बनाने वाले ! तेरी इन ऋचाओं के दर्पण में मैं स्वयं को देख रहा हूँ । हे आत्मा! अमर यज्ञों को उत्पन्न करने वाले! आत्मा रूपी यज्ञ से सचराचर को वरद् करने वाले ! जिसने आत्मा रूपी इस यज्ञ को जाना ! आत्मस्थ होकर जिया, उसके साथ ही सम्पूर्ण सचराचर को आत्ममय जानकर सबको समर्पित हो जिसने जीवन के क्षण जिये ! वही देवत्व हो पाता है ! वही ईश्वर में व्याप्त हो अमर हो जाता है ।

रे मन ! पुकारता हूँ तुझे ! इन्द्रियों ! सावधान होकर सुनो ! हे मेरे रोम-रोम जाग ! मुझे सुन ! मुझे, मेरी ही ज्वालाओं में जलने दो ! मेरे संग मेरे भीतर चलो! अन्तर में प्रकट हो रहे पवित्र यज्ञ के इस कुण्ड में मेरे साथ प्रवेश करो!

तन जले। रोम-रोम अमर रश्मियों में यज्ञ हो जाये! अमर आत्मा से योग करें, अद्वैत हों! जीवन और आत्मा को योग के द्वारा अद्वैत करें!

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्॥१.१.५.

सम्पूर्ण यज्ञों को करने वाला परमेश्वर! आत्म यज्ञों के द्वारा प्रकृति को नाना योनियों में चित्रित करता जिस प्रकार? उस देव राह पर जाने वाले हो जाते हैं अमर देवता!

(अग्निर्होता) परमेश्वर, सम्पूर्ण सचराचर का अधिष्ठाता (कविक्रतुः) आत्म यज्ञों के (द्वारा (सत्यश्चित्रश्रवस्तमः) प्रकृति का पुनः-पुनः चित्रण करने वाला अर्थात पुनः स्वरूप प्रदान कर उत्पन्न करने वाला। जो उसके इस (देवों) अर्थात आलौकिक, दिव्य ज्ञान को धारण करता है। (देवेभिः) ईश्वरत्व में अर्थात परमेश्वर में (आगमत्) व्याप्त हो जाता है, आ जाता है।

परमेश्वर ही सम्पूर्ण आत्मयज्ञों का अधिष्ठाता है। उसकी राह हो हम सबकी सच्ची राह है। सम्पूर्ण सचराचर पाठ्यपुस्तक के समान है, जिसे परमेश्वर स्वयं लिख रहा है। प्रत्येक देहधारी इस पुस्तक का अक्षर है। यह प्रकृति रूपी दुर्लभ ग्रन्थ ही इकलौता धर्म-ग्रन्थ है। परमेश्वर की इच्छा और राह इसी ग्रन्थ से स्पष्ट होती है, परम् पिता ने उत्पत्ति की राह जो दिखायी है, उस राह पर जाने वाले ही ईश्वर में अमर होकर व्याप्त होते हैं। परमेश्वर सम्पूर्ण प्रकृति को नये रूपों में उत्पन्न करने के लिए, उसे पुराने सांचों में ही ढालकर उत्पन्न करता है। माता–पिता सांचा बनते हैं, तो उनका पुत्र उन सांचों में ढलकर उत्पन्न होता है। संतान की उत्पत्ति के लिए कोई संतान नहीं खाता है। अन्न जो खाया है, वही जिस सांचे में ढलता है, उस सांचे की अनुकृति हो जाता है। एक प्रकार के अन्न और जल से मनुष्य, पक्षी और पशु सभी प्रकट हो रहे हैं। सामग्री वही है। जिस सांचे में ढलती है यथा संतति बन प्रकट हो जाती है। इसलिए हे ईश्वर की राह जाने वालों! जब सांचों में ही ढालकर प्रभू ने उत्पन्न किया है तुझे, तो तेरा भी कर्तव्य है! तू उसकी दिखाई राह पर चल। अपने शरीर के जैसा सांचा बना। मन्दिर बना! आत्मा जैसी मूर्ति बिठा! फिर आत्म ज्वालाओं रूपी सांचों में ढल! साधना

की राह में पल ! नये व्यक्तित्व को धारण कर, सांचे से एक बार फिर स्वरूप ग्रहण करता देवत्व में प्रकट हो ! सगुण और निर्गुण के बेहूदे झगड़ों को छोड़ ! जो राह प्रभू आत्मा होकर दिखाते हैं, उसी राह का अनुगामी हो ! यदि ईश्वर चाहते तो तू बिना सांचों के भी उत्पन्न हो जाता ? क्या सर्व समर्थ के लिए कुछ भी असम्भव है ? फिर भी तुझे बनाने वाले परमेश्वर ने तुझे सांचों में ढालकर उत्पन्न किया है । तू भी अपने ही शरीर को मन्दिर बना यथा--"पल्थी जैसा चबूतरा, धड़ के जैसा गोल कमरा मन्दिर का, सिर के जैसा गुम्बद, जटाओं के जूड़े सा कलश, आत्मा जैसी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति मन्दिर की तथा जीव रूप पुजारी हो । इसी राह से सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है । इसी राह तू निरन्तर योनियों के उत्थान को प्राप्त हुआ है । तपस्वी की भी यही राह है । यही आत्मा की राह है । यही परमेश्वर की राह है ! नारायण हर ओर, सम्पूर्ण सचराचर में अपनी राह स्पष्ट कर दिखा रहे हैं । ये अमृतमय राह तुझे ले जायेगी, परमेश्वर के परम धाम में ! सम्पूर्ण सचराचर का छोटा चित्र है तू ! अर्थात् सम्पूर्ण सचराचर सूक्ष्म होकर तुझमें समाया हुआ है । तू न तो परमेश्वर से अलग है, न ही उसकी सृष्टि से अलग है तथा न ही उसकी राह से हटकर तेरी कोई राह हो सकती है ?

रोम–रोम में आत्मा की अमर ज्योति को सजा ! प्रत्येक क्षण में मूर्ति के रूप और छवि को मुस्कराने दे ! आत्मा की ही शीतल छाया में बैठ ! आत्मा की ज्योतियों में स्वयं को तपाता चल । पूर्ण ज्योति हो जा ! वह सब कुछ जो तेरे बाहर है, वह सब कुछ सूक्ष्म होकर तेरे भीतर है । भीतर और बाहर को एक कर दे ! हर ओर नारायण हैं । वही सब में समाये हुए हैं ! सब कुछ उनमें समाया हुआ है ! मैं भी वहीं हूँ ! उनकी बनायी राह चल, उनसे योग कर ! अद्वैत की योगमय राह चल ! जीवन क्या है ? क्षीर सागर में बिन्दुओं का जुड़ना ! ज्योतिर्मय गर्भ मे साकार स्वरूप को पाना । मृत्यु क्या है ? मायाओ से सन्तप्त हो, इन्हीं बिन्दुओं का पुनः–पुनः बिखर जाना ! यूं बिखरे हुए बिन्दुओं से ज्योतिर्मय गर्भ में, साकार स्वरूप पाता है तू ! यूँ भटकते हुये विचारों के साथ बिन्दु-बिन्दु होकर इसी धरा पर छितराता है तू ! स्वयं को पहचान जीव ! बिखरते विचारों को सावधानी से मूर्तिमान कर ! आज के भटकते विचार कल के बिखरते स्वरूप का पूर्वाभ्यास हैं । मत बिखरने दे इनको । आत्मस्थ कर विचारों को ! भटकते विचारों को आत्मसंगी

बना, आत्मा से योग कर, अपने सत्य स्वरूप को पा ! आत्मा ही है तू, आत्मा ही हो जा !!

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥१.१.६.

जिस अंग को धरा के, यज्ञ करते हो तुम अग्ने ! करते अतिशय कल्याण उसका ! तुम्हारी ही यथा प्रकृति का अंग हो जाता है वह !

(यत्) जिस (अंग) धरा के अंग को, प्रकृति को (दाशुषे) जलाते हो, यज्ञ करते हो (त्वमग्ने) तुम हे अग्ने, आत्मा, अधियज्ञ (भद्रं करिष्यसि) उसका कल्याण करते हो ! उस प्रकृति के अंग का (तवेत्) आपकी (तत्) ऐसी अथवा उस प्रकृति का (अंगिरः) अंग हो जाता है ।

जिस अंग को धरा के, हे आत्मा ! हे अधियज्ञ ! तुम अपनी अग्नियों में ग्रहण करते हो, जलाते हो यज्ञ करते हो ! उसका अतिशय कल्याण करते हो । जिस प्रकृति के रूप की तुम आत्मा होते हो । जिस रूप (काया) में तुम उसको जलाते हो, वह उसी रूप का अंग हो जाता है ।

हे पावन मधुच्छन्दा ! वेद की इस ऋचा में तुम मुझको मेरे ही जीवन की कहानी सुना रहे हो । तुम्हारी इस ऋचा में मेरे जन्म-जन्म की कहानी है ।

मेरी कल्पनाओं में उभरता है, वह आंगन ! वह घर ! जो कभी बनाया था मैंने ! फिर उसी आंगन में धड़कनों और सांसों को समाप्त कर मेरा ही शरीर निर्जीव होकर पत्थर की शिला सा पड़ा था । मेरे शरीर को बनाकर अर्थी, मेरे ही मित्र और स्वजन "राम नाम सत्य है, हरि का नाम सत्य" है गाते हुये कन्धे पर उठाकर ले चले थे श्मशान के उस वीराने में मेरा ही यह शरीर, ज्येष्ठ-अषाढ़ की तपती दोपहरी सा, धू-धूकर जला था । मेरा शरीर, इस प्रकृति का अंग, बनकर भस्मी के कण श्मशान की उस धरती पर छितरा गया था । छितरायी भस्मी के कणों के साथ ही, जीव रूप । मैं भी भटक गया था। गति, गन्तव्य और अभिव्यक्ति से शून्य होकर ।

ढलते सूरज के साथ, पेड़ों की फैलती परछाइयों की तरह, अपने सायों को लम्बा करते, झुके कन्धों और उदास चेहरों वाले मेरे मित्र और स्वजन, पैरों को घसीटते लौट गये थे । रात की अंधेरी चादर, उस सूनसान श्मशान पर फैलती चली

गयी थी। छितराते हुए मेरे ही तन के कण, बनकर भस्मी के कण ! जीव रूप में, मैं अपनी ही अतृप्तियों के साथ, शक्ति और सामर्थ्य से हीन होकर, भटक रहा था। नहीं जानता था अब क्या होगा मेरा ? कहां जाना होगा ? कौन ले जाएगा मुझे ? क्या रूप होगा मेरा ? कैसे जुड़ेंगे मेरे ही छितरा गए तन्तु ?

तभी उस खामोशी में, मौन खड़े वृक्ष और पौधों में, अनहद गीत की तरह यह ऋचा गूँजने लगी। मेरे मन में आशा जागी ! मेरे ही तन की मिट्टी, जो जल का संग करके एक गंदला पानी बन गयी थी, गीत की राह उन्मादिनी सी बढ़ चली। जीव रूप मेरी प्रेरणा ! अतृप्तियों के बंधन ! वृक्ष और पौधों से आमन्त्रित करता आत्मा का वो अनहद गीत ! मेरे तन की मिट्टी, पानी के संग बहती, उन पेड़ों को समर्पित हो गयी। यज्ञ पर न्योछावर हो गयी !

जो अंग बन गया था मेरा शरीर, इस धरा का ! गंदला पानी, दुर्गन्ध भरा। तूने उन पेड़ पौधों के गर्भ में मुझे स्वीकार किया ! हे पतित पावन ! तूने मेरे पाप न देखे। मेरा रूप न देखा ! मेरी सड़ान्ध और दुर्गन्ध से भी तूने मुझे तिरस्कृत नहीं किया! परम् दयालु होकर तूने मेरी भस्मी को यज्ञ किया, पेड़ों के गर्भ में ! ब्रह्म ज्वालाओं में ! भस्मी के रूप में तूने जलाया मुझे। मैं जला तेरी पावन अग्नियों में ! मेरा अतिशय कल्याण हुआ। तू जिस पेड़ की आत्मा था। जलकर तुझमें, मेरा शरीर भी उस पेड़ का अंग हो गया। जिस-जिस वृक्ष-पौधों रूपी यज्ञशाला में मेरे ही जले हुए अंग यज्ञ हुए, उनका यथा-यथा कल्याण हुआ। मेरे ही तन के टुकड़े, बनकर नाना प्रकार के रसीले फल और पत्तियां; यथा पेड़ों, पौधों, शाखाओं पर लहलहा उठे। दुर्गन्ध, सुगन्ध हुई। कुरूपता ने सौंदर्य पाया। पतित बन गया था मैं, पुनः पावन हो चला !

जो अंग था मैं, प्रकृति का ! नाना फल तथा अन्नादिक ! एक दम्पत्ति ने मुझे भोजन रूप ग्रहण किया। आत्मा होकर तूने मुझे अन्न रूप में स्वीकारा ! अंगीकार किया ! मैं जला तेरी अग्नियों में ! मेरा अतिशय कल्याण हुआ ! अन्न के स्वरूप को त्यागते मेरे अंग ! रक्त, मांस आदि में बदल गये किसी के गर्भ में ! पुनः बालक के शरीर के रूप में प्रकट हो उठा। मैं पुनः देह से वरद हो गया। मेरा अतिशय कल्याण हुआ। जिस देह में तूने मुझे जलाया था। यज्ञ किया था ! मैं उसी का पुत्र बनकर प्रकट हो गया हूँ।

यूं न जानें कितनी बार भटकता रहा हूँ मैं ! यूँ न जाने कितनी बार मुझको लौटाता रहा है तू ! यही तो वह यज्ञ है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण सचराचर प्रकट होता है। बारम्बार प्रकट होता रहा है ! बारम्बार प्रकट होता रहेगा !

हे पावन मधुच्छन्दा ! तेरी ये ऋचाएं मुझे त्रिनेत्र बनाया करती हैं। जब खुलती है तीसरी आंख मेरी ! मेरे सब ओर फैली यह प्रकृति। ये पेड़-पौधे, सम्पूर्ण सचराचर ! अनायास मुखर हो उठता है। मैं पेड़-पौधों को बोलते हुए, वेद की ऋचाओं के तेरे उस गीत को हर ओर गाते, सुनने लगता हूँ। इन पेड़ों और पौधों में, मुझे मेरे लौटते अंग दिखने लगते हैं। इन पेड़ों के गर्भ में निरन्तर चल रहे यज्ञ प्रवाहों में, मैं सब ओर पाता हूँ स्वयं को ! सामग्रीवत् ज्वालाओं में जलते हुए ! बनकर ज्योति यज्ञ के प्रवाहों से उभरते हुए ! प्रत्येक यज्ञशाला के साथ उसकी यथा संतति का स्वरूप लेता हुआ ! एक संकीर्ण देह से उभरकर मैं सम्पूर्ण सचराचर में व्याप्त हो जाता हूँ। मैं सर्वत्र व्याप्त हो जाता हूँ।

उप॑ त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥१.१.७.

व्याप्त हो गये तुममें, कलुष के बिस्तरों पर सो रही बुद्धियों के स्वामी, हम लोग ! पवित्र अमर हुये ! हे भरतार ! हमारे नमस्कार !

(उप) व्याप्त हो गयी (त्वाग्ने) तुममें हे अग्ने ! आत्मा ! यज्ञ ! (वयम्) हमारी (दोषावस्ता) दोष और कलुष के बिस्तरों पर सोने वाली (धिया) बुद्धियाँ (दिवेदिवे) जलकर तुम्हारी अमर रश्मियों में अमर हो गयी (नमो भरन्त एमसि) ऐसे पावन भरतार हम तुम्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! सड़ान्ध और दुर्गन्ध को, सौन्दर्य और सुगन्ध प्रदान करने वाले ! हे भरत ! हे भरतार ! हे परम पुनीत ! तुम सदा पतन को पावन बनाते हो ! हे पतित पावन ! दुर्गन्ध को सुगन्ध बनाने वाले ! सुगन्धित पावन वनस्पतियों को दुर्लभ मनुष्य का शरीर प्रदान करने वाले ! हे प्रदीप्त ! हम ऐसे मनुष्यों को, जिनकी बुद्धियां असत्य, अज्ञान, अतृप्ति और पाप के रूपहले बिस्तरों पर सोने वाली हैं। ऐसे कलुषित बुद्धियों वाले हम पतित लोग, हे भरतार ! हे आत्मा हम अन्तर्मुखो हो अपनी बुद्धियों को, तुम्हारी पवित्र रश्मियों में समर्पित करते हैं।

हे पिता ! हमारे इस योग को वरद करो ! तुमने सदा दुर्गन्ध को सुगन्ध तथा सुगन्ध को देव–दुर्लभ मानव रूप प्रदान किया है ! समर्पित हो गये भक्तों को, तुम मोक्ष देने वाले हो। हे मुक्तिदाता ! हमारी इन कलुष बुद्धियों को अपनी अमर रश्मियों से युक्त कर, अमर राह दो !

हे यज्ञ ! हे नरसिंह ! तुमने असुरराज हिरण्यकशिपु का भी उद्धार किया है। "दोषावस्ता" का दूसरा नाम "हिरण्यकशिपु" ही है। "हिरण्य" माने 'सुनहरा' तथा 'कशिपु' माने 'बिस्तर'! विषय वासनाओं का सुनहरा बिस्तर, अर्थात दोषावस्ता, हिरण्यकशिपु ही तो है। हमारा मोहान्ध, मदान्ध मन ही तो हिरण्यकशिपु है। जिसकी लिप्साओं वासनाओं के रूपहले बिस्तर पर, बुद्धि रूपी हम सब सो रहे हैं। प्रहलाद ! (प्र) माने अजर–अमर तथा (हलाद) माने मस्ती। आतमा की अमर मस्ती ही प्रहलाद है। विषयान्ध, मोहान्ध मन उसका पिता हिरण्यकशिपु है। हे हिरण्यकशिपु और प्रहलाद के उद्धारक ! हमारी बुद्धियाँ, हिरण्यकशिपु मन तथा इन्द्रियों से ही स्वरूप पाती हैं। कलुषता के बिस्तर पर हम बुद्धि वालों को सोना स्वाभाविक है, क्योंकि कलुषताओं के बिस्तर से ही उभरते हैं हम। प्रकृति के हर रूप के साथी हैं। सड़ी हुई मिट्टी भी हम हैं। दुर्गन्ध और सड़ान्ध का रूप भी हमारा है। तुम्हारी ही पवित्र रश्मियों का स्पर्श पा, हमारे तन दुर्गन्ध से सुगन्धित फलों में आते हैं। तुम्हारी रश्मियों के पावन स्पर्श से ही हम वनस्पतियों से उभरते हैं, दुर्लभ मनुष्य का तन पाते हैं। तेरी ही कृपा से हम बुद्धियों से वरद् होते हैं। हे पिता ! हमारी बुद्धियां, कलुषित मन हिरण्यकशिपु तथा उसकी इन्द्रियों से, उसकी अनुगामिनी वृत्तियों से ही स्वरूप पाती हैं। हम कलुषित बुद्धि वाले ! हे पिता ! प्रहलाद की राह चले हैं। आतमा की स्निग्ध ज्योतियों की मस्ती ही हमारी अमर राह है। अपनी अमर रश्मियों में हमें यज्ञकर, हमारे योग को स्वीकार करो ! हमें यज्ञ करो हमें अंगीकार करो ! हे भरतार ! हमारा समर्पण तथा हमारा नमन स्वीकार करो।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे॥१.१.८.

अमर रश्मियों के यज्ञों के जनक ! ग्रहों और नक्षत्रों को यज्ञों की अमर रश्मियों से संयुक्त कर पवित्र क्षीर सागर में प्रतिष्ठित करने वाले ! हे महाविष्णु! हमें भी ज्योतियों से संयुक्त करो !

(राजन्तम्) हे ज्योति के अनंत पुंज ! सम्पूर्ण ज्योतियों को प्रकट करने वाले (अध्वराणाम्) अजर–अमर रश्मियों के सृष्टा (गोपामृतस्य दीदिविम्) ग्रहों और नक्षत्रों को अजर-अमर आत्म ज्योतियों से परिपूर्ण कर गगन में प्रतिष्ठित करने वाले तथा उनको निरन्तर वृद्धि प्रदान करने वाले (वर्धमानम्) हे महाविष्णु! हे आत्मा ! हे यज्ञ ! (स्वे दमे) हम सबको भी स्निग्ध आत्म ज्योतियों से संयुक्त करो ! आत्म ज्योति बना दो । हे आत्मा ! हे सम्पूर्ण सचराचर में व्याप्त होने वाले परमेश्वर ! हम सब आपको समर्पित हैं । हमें, हमारी ही आत्म ज्वालाओं में यज्ञ करो । आत्म दीप्तियों से संयुक्त करो ! हमारा उद्धार करो । आप ही तो सम्पूर्ण ज्योतियों को प्रकट करने वाले हैं । (राजन्तम्) ऐसी ज्योतियों को उत्पन्न करने वाले है जो कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती हैं । (अध्वराणाम्) अर्थात् अमर रश्मियों के सृष्टा हैं आप ! हे प्रभु ! आप ही तो सम्पूर्ण ग्रहों और नक्षत्रों को (गोपाम्) उत्पन्न करने वाले हैं तथा इन ग्रहों और नक्षत्रों को आत्म दीप्तियों से (ऋतस्य) यज्ञ की रश्मियों से संयुक्त (दीदिविम्) कर गगन में प्रतिष्ठित करने वाले तथा ज्योतिर्मय बनाने वाले हैं । हे प्रभु । गगन में टिमटिमाते सम्पूर्ण ग्रह और नक्षत्र आप ही के द्वारा प्रकट होते हैं । आप ही के द्वारा अमर आत्म दीप्तियों से युक्त होकर टिमटिमाते हैं । आप ही इनके जन्मदाता हैं तथा इन्हें ज्योतियों से युक्त करने वाले हैं । सम्पूर्ण सचराचर में आप ही हर देह की ज्योति हैं । आप ही के द्वारा प्रत्येक आंख; ग्रह और नक्षत्र की भांति, ज्योतिर्मय एवं जगमग है । आप ही के प्रकाश से युक्त होकर जड़ मिट्टी, ज्योतिर्मय बालक के रूप में प्रकट हो जाती है । हे प्रभू ! आप ही प्रत्येक देह को उत्पन्न करने वाले तथा ज्योतिर्मय बनाने वाले हैं । इसलिए आप से हम प्रार्थना करते हैं कि हमें पुनः ब्रह्म ज्योतियों के गर्भ में जलायें, यज्ञ करें ! हम पर कृपा करें ! हमें भी अमर ज्योतियों से युक्त कर, एक नित्य ज्योति बना दें ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥१.१.९

एक पिता की भाँति, हे पिता ! अपनी विभूतियों से हम पुत्रों को संयुक्त करो ! तुम्हारे पुत्र तुम्हारी शोभाओं से युक्त हों !

(स नः पितेव) जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को (सूनवे) अपनी ज्योतियों से संयुक्त करता है । उसी प्रकार हे जगत पिता ! आप पिता हैं हमारे ! हम सब

आपके पुत्र हैं। पिता की भांति ही आप अपने पुत्रों को (सूपायनो) अपनी शोभाओं से, अपनी विभूतियों से संयुक्त करें। (भव) आपकी शोभाओं से संयुक्त होकर (सचस्वा) हम (न) सब (स्वास्तये) आत्मस्थ हो। पिता की राह का अनुसरण करें। (अग्ने) हे अग्नि ! हे यज्ञ ! हे पिता हम पर ऐसी कृपा करें !

जिस प्रकार लौकिक चलन में पिता अपने पुत्रों को अपनी शोभाओं से संयुक्त करता है। अपना रूप देता है। अपने विचार और आचरण प्रदान करता है। अपना नाम और गोत्र प्रदान करता है। अपनी सभी उपलब्धियों का उत्तराधिकार प्रदान करता है। उसी प्रकार हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! हम सब आपके द्वारा प्रकट हैं। हम सब पुत्र हैं आपके ! सत्य रूप में आप ही हमारे पिता हैं। आप ही से हम रूप पाते हैं। इसलिए हे पिता ! एक पिता की भांति आप हम पर दयालु हों, कृपा करें। पिता की भांति ही आप हमें अपने ही सौभाग्य से संयुक्त करें। आप परम् ज्योति हैं। हमें अपनी ज्योतियों से शोभायमान करें। मन, बुद्धि और विचारों को अपने ही अनुरूप ढालकर अमर ज्योतिर्मय राह दिखा दें। हे आत्मा ! हमें आत्मस्थ करें ! हे पिता ! हमें योग्य पुत्र बनने का सौभाग्य प्रदान करें।

पुत्र ही पिता का अनुसरण करता है। हे पिता ! आप ही आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर को निष्काम भाव से उत्पन्न करते हैं तथा उनमें जीवन का संचार करते हैं। हे पिता ! हमें अपने सौभाग्य से संयुक्त करें। पिता की सेवा का अवसर प्रदान करें। जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सेवा करता है। उसी प्रकार हे पिता हम आपकी सेवा करें तथा आपके द्वारा प्रकट हुए इस सचराचर के निष्काम समर्पित सेवक हों।

उपसंहार

इस प्रकार ऋग्वेद प्रथम मण्डल, प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के प्रथम सूक्त की नौ ऋचाओं के रहस्य को हमने जाना। ऋग्वेद; ज्ञान और विज्ञान का सहस्त्र धाराग्रन्थ है। वेद की भाषा सूत्रात्मक है। प्रत्येक ऋचा नाना स्तरों पर प्रकृति, ज्ञान और विज्ञान के नाना रहस्यों का स्पष्टीकरण देने लगती है। उपरोक्त सूक्त में हमने जाना कि सम्पूर्ण सचराचर की उत्पत्ति; धारण, सृजन और संहार, यज्ञ के द्वारा हो रहा है। ऋग्वेद की मान्यता में सृष्टि का मूल यज्ञ है, न कि मनु और

शतरूपा की कहानी। सम्पूर्ण सचराचर धारण, सृजन और संहार अर्थात अ उ म=ॐ अर्थात प्रत्येक घट में वास करने वाली आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। "ॐ" को सनातन धर्म में प्रणव अर्थात बीज के रूप में ग्रहण किया गया है। बीज में सम्पूर्ण वृक्ष की व्यापक कल्पना जिस प्रकार सूक्ष्म समायी रहती है उसी प्रकार "ॐ" रूपी अक्षर में सम्पूर्ण सचराचर समाया हुआ है। हमने इसको उपरोक्त सूक्त में संशय रहित रूप से स्पष्ट किया है।

सचराचर रूपी यज्ञ में आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठित देव हैं। आत्मा ही यज्ञ का आचार्य हैं। इस सत्य को हमने ऋचाओं के द्वारा प्रकट किया है।

जो आत्मस्थ होकर आत्म यज्ञों में जीवन के प्रत्येक क्षण का यजन करते हैं। वे ही आत्मा रूपी अमर यज्ञों में यज्ञ होकर अजर-अमर अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। उपरोक्त सूक्त में हमने इस दूसरे रहस्य को भी संशय रहित रूप से जाना। इसमें हमने जाना कि वाह्य यज्ञ, मूल आत्मस्थ यज्ञ का प्रतीक है। वाह्य यज्ञ, वाह्य संसार की वासनात्मक वृत्तियों के परित्याग का हेतु है। मूलतः यज्ञ आत्मस्थ है। जिसके द्वारा मोक्ष सम्भव है। वाह्य यज्ञ, वाह्य संसार के परित्याग का हेतु है। जबकि आत्मस्थ होकर अन्तरात्मा में किया गया यज्ञ ही मनुष्य योनि का मूल तथा सर्वोपरि उद्देश्य है। इस सूक्त में हमने मूल धर्म ग्रन्थ अर्थात प्रकृति में स्वयं को जानने के प्रयास को, प्रकृति-प्रदत्त माना है। सांचों से हम उभरे हैं। इसीलिए प्रकृति ने सांचों के द्वारा उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया है। ऐसा जानकर मन्दिर और मूर्ति की कल्पनायें उभरी हैं। इस सूक्त में मन्दिर और मूर्ति के रूप में भी हमने शरीर रूपी देवालय को जाना। आत्मा मूर्ति है तथा जीव रूप मैं पुजारी हूँ। इसे अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। मूलतः देवालय मेरा शरीर ही है, जिसे मन्दिर और मूर्ति के रूप में प्रतीकात्मक ग्रहण करता हूँ। आत्मा मूर्ति के प्रति आत्मस्थ होना तथा शरीर रूपी देवालय के प्रति पूरी तरह से ईमानदार होना, मेरे जीवन की सार्थकता है।

इस प्रकार प्रथम सूक्त में हमने सृष्टि के बहुमूल्य रहस्यों का अनावरण पाया है अगले अध्याय में दूसरे सूक्त का आरम्भ करेंगे। जिस प्रकार यज्ञ के आचार्य की पूजा आदि के बाद आचार्य के साथ आये हुए, उपाचार्य को पूजा तथा सम्मान होता है उसी प्रकार दूसरा सूक्त भी प्राण–वायु का है। दूसरे सूक्त में हम उपऋत्विज के रूप में प्राण-वायु को ग्रहण करें। आत्मा यज्ञ का आचार्य है। प्राण-वायु यज्ञ का उपाचार्य है। कैसे ?

ऋग्वेद प्रवचन

प्रथम मण्डल, मधुच्छन्दा ऋषि

द्वितीय सूक्त

प्रथम सूक्त में हमने उत्पत्ति के मूल स्वरूप को अर्थात् यज्ञ को आंशिक रूप से जाना, इसके साथ ही वेद की धाराओं में उत्पत्ति, विज्ञान के परम रहस्यों का अनावरण आरम्भ हो गया। आधुनिक वैज्ञानिक जगत उत्पत्ति के मूल को लेकर अत्यधिक भ्रमित हैं। बहुत से वैज्ञानिकों का मत है कि 'अमीबा' और 'वैक्टीरिया' से उत्पत्ति हुई है। उनकी एक धारा अर्थात एमीबा, धीरे-धीरे वनस्पतियों को जन्म देने लगी तथा दूसरी धारा ने पशु-पक्षी बन्दर और फिर मनुष्य को जन्मा। आधुनिक वैज्ञानिकों की यह विचारधारा लगभग मृतप्राय हो चुकी है। एक कोषीय जीव ने, असंख्य कोषीय जोवधारियों को कैसे जन्म दिया होगा ? इस विषय को लेकर विश्व के लगभग सारे वैज्ञानिक, अमोबा और वैक्टीरिया की कहानी, जिसमें चार्ल्स डारविन का बड़ा योगदान रहा है, उसे लगभग नकार चुके हैं। इस धारणा के अतिरिक्त और कोई भी स्पष्ट धारणा विश्व के वैज्ञानिकों में नहीं है।

ऋग्वेद ने आरम्भ में ही सृष्टि के मूल में यज्ञ के रहस्यों को बतलाया है। जिसे हम अपने हर ओर सर्वत्र देख सकते हैं। आज भी इसी यज्ञ के द्वारा सचराचर उत्पन्न हो रहा है। वेद के मत के अनुसार सूक्ष्म बिन्दु जब पदार्थों से अलग होते हैं तो माया के कारण सन्त्रस्त एवं संतप्त होकर, माया रहित क्षेत्र की ओर अर्थात गगन की ओर भागते हैं। माया रहित क्षेत्र में संतप्त और सन्त्रस्त बिन्दु धीरे-धीरे शान्त सुप्तावस्था को प्राप्त होते हैं। इस शान्त अवस्था में वे जुड़ने लगते हैं। नन्हीं-नन्हीं गोलियों में जुड़ते-जुड़ते, धीरे-धीरे ये उल्काओं, ग्रहों और नक्षत्रों के स्वरूपों को भी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार हिरण्य गर्भ में, क्षीर-सागर में, यज्ञ के द्वारा ही बिन्दु जुड़कर ब्रम्हाण्ड बन जाते हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर है। पाश्चात्य वैज्ञानिक की 'बिग-बैंग-थ्योरी' भी सन्देहों के कटघरे से कभी बाहर नहीं निकली है। आधा विश्व तो इसे पूरी तरह से इंकार कर चुका है। ग्रहों, नक्षत्रों की उत्पत्ति की कहानी भी यज्ञ के द्वारा जो वेद ने दिखलायी है, उसे साक्ष्य और सारे आधुनिक प्रमाण भी पुष्ट कर रहे हैं।

इन विषयों का विस्तार हम आगे चलकर करेंगे। अभी तो हम यज्ञ की भूमिका में ही प्रवेश पा रहे हैं। पहले सूक्त में हमने जाना कि परमेश्वर ही आत्मा होकर यज्ञ का आचार्य है। इस सूक्त में ही हम जानेंगे कि यज्ञ का उपाचार्य कौन हो?

वायवायांहि दर्शतेमेसोमा अरंकृताःतेषां पाहिश्रुधी हवम्॥१.२.१.

आवाहन करते हैं ! अनन्त बलयुक्त प्राण वायु तुम्हारा ! ज्योतियों के जीवन रस से दर्श-यज्ञ सम्पूर्ण करो हमारे ! यज्ञों के रक्षक बनो !

(वायवायाहि) हे प्राण वायु ! आज आवाहन करते हैं आपका (दर्शतेमे) दर्श–यज्ञ को सींचने के लिए अर्थात वह यज्ञ जिसमें स्वयं यज्ञ होकर पुनः पुत्र रूप में ज्योतिर्मय स्वरूप को धारण करते हुए उत्पन्न होना चाहता हूँ। जीव और आत्मा के द्वैत को अद्वैत कर, एक नूतन स्वरूप को ग्रहण कर उत्पन्न होना चाहता हूँ, ऐसे यज्ञ को सींचने के लिए ही प्राण वायु, हम आपका आवाहन करते हैं। (सोमा अरंकृता) ज्योतियों के रस में अलंकृत करने वाले, हमारे इस यज्ञ को अपनी जीवन ज्योति रूपी रस से अलंकृत करो। (तेषाम् पाहि) इन यज्ञों की सभी प्रकार से आप रक्षा करें तथा (श्रुधी हवम्) इस यज्ञ द्वारा उत्पन्न हुए हमारे ही नूतन ज्योतिर्मय शिशु स्वरूप अर्थात् हमारी भी रक्षा करें।

हे प्राण वायु ! हम सब आप का आवाहन करते हैं। यज्ञ के आचार्य अर्थात् आत्मा हमारे इस आत्म यज्ञ के आचार्य बने हैं। शीघ्रता से हर ओर व्याप्त होने वाले वायु ! हमारे इस यज्ञ की रक्षा हेतु आप उपाचार्य पद ग्रहण करें। हमारे यज्ञों को सफल बनायें। आत्मा श्रीराम के दूत, पवनसुत हनुमान के रूप में प्रतिष्ठित होने वाले हे प्राण वायु आप ही तो हमारे आत्मा के साथ प्राणवायु होकर हमारी देह में व्याप्त हैं। इससे पूर्व भी आप ही आत्मा के साथ उपाचार्य के रूप में हमारा उद्धार निरन्तर करते रहे हैं। इसलिए इस यज्ञ में भी हम आप का आवाहन करते हैं।

वायं उक्थेभिंर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारंः।सुतसोमा अहर्विदः॥१.२.२.

हे वायु ! आप स्तोत्र को जीर्णता से निर्मल करते ! निचोड़ के अमृत पुनः प्रज्जवलित करते ! आप हैं अमर उपऋत्विज !

(वाय) हे प्राण वायु ! बुनकर (उक्थेभिः) स्तोत्र (जरन्ते) जीर्ण होते हैं। (त्वामच्छा) आप निर्मल करते हैं ! आप अच्छावाक अर्थात उपऋत्विज हैं। (जरितारः) जरत्व से अर्थात जीर्णता से तारण दिलाते हैं, उद्धार करते हैं। (सुतसोमा) निचोड़कर जीवन रूपी ज्योति रस को (अर्हविदः) कुमारावस्था प्रदान करते हैं। नित्यावस्था प्रदान करते हैं।

हे प्राण वायु जब-जब मेरे जीवन के स्तोत्र क्षीण होते हैं, मेरे ही शरीर के बिन्दु भस्मी के कणों में धरा पर छितरा जाते हैं। आत्मा हमारा, बनकर बुनकर! हमारे हो कणों पुनः बुनने लगता है। इस निरन्तर प्रक्रिया में उस अन्न को भी, जब मनुष्य के शरीर में पुनः बालक के रूप में बुनता है तो हे प्राण-वायु ! आत्मा के द्वारा बुने इस शिशु स्वरूप में आप ही जीवन ज्योतियों को निचोड़ते हैं, और पुनः कुमारवस्था प्रदान करते हैं। इस प्रकार जितनी बार हम जीवन के स्तोत्र को खोकर जीर्ण कणों में छितरा जाते हैं। जितनी बार घट-घट वासी आत्मा, बनके बुनकर, हमें नया स्वरूप प्रदान करता है, तो आप आत्मा रुपी आचार्य के साथ प्राण-वायू बन, उपाचार्य के रुप में, जीवन ज्योतियों का संचार करते हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार आचार्य यज्ञअग्नि में घृत का संचार करते हैं। उपाचार्य जब जब अग्नि के स्तोत्र क्षीण होते हैं, तो घृत का संचार कर उसे पुनः प्रज्जवलित करते हैं। ठीक उसी प्रकार जब यज्ञ में वेद गान करते आचार्य की वाणी के स्तोत्र थकने लगते हैं, तो उपाचार्य अपनी वाणी के सहयोग से पुनः स्तोत्रों के उच्चारण को ऊपर उठाते हैं। उसी प्रकार जीवन रूपी देवासुर संग्राम में जब असुर विचारों के हाथों, हमारा देवत्व लुटने लगता है, हम अपनी ही विषयान्धताओं के कारण आत्म मार्ग का परित्याग कर, विषयान्ध जगत में भटकने लगते हैं। असुरत्व विजयी होता है। हम, आत्मा और प्राण दोनों का संयोग खोकर, भटकने चल देते हैं। हमारे ही शरीर, आत्मा और आपके द्वारा बनाये हुए पवित्र देवालय, जीर्ण होकर भस्मी के कणों में छितरा जाते हैं। एक अंधेरी यात्रा पर जब हम सब भटक जाते हैं, तब आत्मा पुनः हमें समेटता है। हमारे तन के कणों को, तंतुओं को एक बार फिर जोड़ता है। आत्मा बनकर आचार्य यज्ञ के द्वारा जब हमारा उद्धार कर रहा होता है, तब आप ही तो उपाचार्य बन, इस यज्ञ को पूर्णतः प्रदान कराते हैं। जरावस्था से पुनः कुमारावस्था प्रदान करते हैं।

हे प्राण वायु हमारे इस दर्श–यज्ञ में जिसमें हम आत्मा को ही आचार्य बना जीवन के प्रत्येक क्षण को तथा अपने सम्पूर्ण सगुण साकार को बनाकर सामग्री, आत्म ज्वालाओं के कुण्ड में यज्ञ हो, तद्रूप होना चाहते हैं। इस यज्ञ में हमने सचराचर के स्वामी, आत्मा को ही यज्ञ का आचार्य बनाया है। आप प्राण वायु ! उपाचार्य होकर इस यज्ञ के संकल्प को सफल बनायें।

वायो तव॑ प्रपृ॒ञ्चती धेना॑ जिगाति दा॒शुषे॑। उ॒रू॒ची सोम॑पीतये॥१.२.३.

असीम अनन्त सचराचर रूपी सागर के हैं आप उपऋत्विज ! व्यापकता से सींचते यज्ञों को जीवन ज्योति रूपी अमृत से !

(वायो) हे प्राण वायु (तव) आप (प्रपृंचती) असीम अनन्त (धेना) सागर (जिगाति) उपाचार्य अर्थात् प्राण वायु (दाशुषे) यज्ञों द्वारा करने वाले उद्धार यज्ञ करने वाले (उरूची) व्यापकता से (सोम) जीवन ज्योतियों का (पीतये) पान करने, कराने वाले हैं।

हे प्राण वायु सम्पूर्ण सचराचर रूपी सागर में आप अकेले ही प्रत्येक यज्ञ के उपाचार्य हैं। सम्पूर्ण सचराचर में आत्मा ही यज्ञ का आचार्य हैं तथा हे प्राण वायु ! आप आत्मा के साथ उपाचार्य हैं। आत्मा के साथ आप ही सम्पूर्ण सचराचर में यज्ञों के द्वारा ग्रहों, नक्षत्रों एवं नाना प्रकार के जीवन्त जगत को प्राण–वान करते हैं। आप ही यज्ञ के द्वारा प्रकट हुए स्वरूपों को व्यापकता से जीवन ज्योतियों का पान कराते हैं। जब सम्पूर्ण सचराचर में आप के अतिरिक्त कोई दूसरा यज्ञ का उपाचार्य नहीं है, तब हमारे इस दर्श–यज्ञ में आपके अतिरिक्त दूसरा उपाचार्य कौन हो सकता है। इसलिए हे अनन्त ! बलयुक्त प्राण–वायु ! हमारे यज्ञ की रक्षा तथा यज्ञ से प्रकट हुए स्वरूप को प्राण पल्लवित करने के लिए आप हमारे इस यज्ञ में उपऋत्विज बन हमें अनुग्रहीत करें, हम पर कृपा करें।

वेद की इन ऋचाओं में उपऋत्विज को जो वाह्य यज्ञ कराने आये हैं। उन्हें यजमान प्राणवत् ग्रहण करें तथा ऋत्विज को आत्मा का ही प्रतीक जान कर यज्ञ का आचार्य रूप वरण करें।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि ॥१.२.४.

जो स्वयं को मिटाकर यज्ञ में, खो देता है स्वयं को ! खोया था कचने स्वयं को, शुक्राचार्य के शरीर में ! पाता है वही जितेन्द्रिय आत्म ज्ञानी, आपके द्वारा उत्पन्न अमृत को !

(इन्द्र) हे महान (वायु) प्राणवायु, उपाचार्य, (इमे) इस प्रकार (सुता) उत्पन्न किए हुए, निचोड़े हुए महान अमृत को (उप) व्याप्त होकर (प्रयोभिः) प्रयत अर्थात् जितेन्द्रिय, आत्म ज्ञानी, आत्मस्थ योगी (आगतम्) आ करके अर्थात हे प्राण वायु ! हे महान ! आत्म ज्वालाओं में प्रकट किये हुए तुम्हारे इस अमृत को कौन ग्रहण कर पाता है ? जो अपने आपको, स्वयं को सम्पूर्णता से, निजत्व को तुममें ही व्याप्त कर देता है। जो बनकर यज्ञ की सामग्री, सांकल्य, सम्पूर्णता से उन्हीं आत्म ज्वालाओं में यज्ञ हो जाता है। जिसका सम्पूर्ण भीतर-बाहर आत्म-ज्वालाओं में, एकीभाव में भस्मसात् हो जाता है, वही पी पाता हैं ! तुम्हारे द्वारा, आत्मकुण्ड में प्रकट किये गये, इस सोम रूपी अमृत को ! जो मिटा नहीं उस यज्ञ में, उसने कभी कुछ पाया नहीं।

जब भस्मी, यज्ञ की ज्वालाओं के गर्भ में, अपने निजत्व को पूर्णता से मिटा पाई, तभी उसका पुनर्जन्म आत्मकुण्ड के रस से युक्त होकर, रसीला फल बना। निजत्व को सम्पूर्णता से खोये बिना सढ़ी हुई मिट्टी फल नहीं बन पाती। यही प्रकृति का नियम है। भोजन जब शरीर में व्यापकता से, ब्रम्ह-कुण्ड में यज्ञ हुआ, तो उसने भी जीवन रस से संयुक्त होकर, जड़ता का परित्याग कर, जीवन्त शिशु का रूप पाया। यदि भोजन अन्नादिक अपने रूप की आसक्ति को खोते नहीं, तो वे अन्नादि के कण, गर्भस्थ हो नन्हें शिशु के रूप में कैसे उत्पन्न होते ? यही प्रकृति का नियम है।

हे प्राणवायु! हमारे ही आत्मकुण्ड, यज्ञकुण्ड में तुम जिस अमृत को निचोड़ कर प्रकट कर रहे हो, उस अमृत का पान, मैं निजत्व को खोये बिना कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? प्रकृति के अकाट्य नियमों की अवहेलना करने की सामर्थ्य तो देवताओं में भी नहीं हैं। तुम्हारे द्वारा प्रकट किए उस महा अमृत को तभी पा सकता हूँ, जब अपने निजत्व को, सर्वस्व को, सम्पूर्णता से तुमको समर्पित कर दूँ। सब कुछ खो दूं कैसे?

(इन्दवो) जैसे इन्द्र का भेजा हुआ कच (उशन्ति) उशनन अर्थात् शुक्राचार्य, दैत्यगुरू के (वाम) बायें अंग को फाड़कर प्रकट हो गया था। अर्थात् तुम्हारे इस अमृत को उसी ने पाया, जो इंद्र के द्वारा भेजे हुए, देव गुरू बृहस्पति के पुत्र, कच की भांति स्वयं को मिटाकर दैत्यगुरू शुक्राचार्य के देह में प्रवेश पाया। उसी ने संजीवनी मंत्र पाया। कथा इस प्रकार है- - - -

देवासुर संग्राम चल रहा था। देवताओं के गुरू थे, देव गुरू बृहस्पति तथा दैत्यों की ओर से दैत्यराज वृषपर्वा तथा उनके महा तेजस्वी तपोनिष्ठ गुरू शुक्राचार्य थे। शुक्राचार्य को संजीवनी मंत्र का ज्ञान था। इसलिए जो भी दैत्य युद्ध में मारे जाते थे, दैत्य गुरू शुक्राचार्य उन्हें अपने सजीवनी मंत्र से पुनः जीवित कर देते थे। जिसके कारण युद्ध निरन्तर खिचता चला जा रहा था। देवगुरू बृहस्पति के पास तथा देवताओं के राजा इन्द्र के पास, संजीवनी मंत्र नहीं था। प्रतिदिन युद्ध से देवलोक के अमरदेवता भी हताश हो रहे थे। उन्होंने इन्द्र से कहा, इस युद्ध को समाप्त करने के लिए इन्द्र किसी भी प्रकार शुक्राचार्य से संजीवनी मंत्र लें लें। इन्द्र मान गया, उसने एक योजना बनाई। अपनी योजना के अनुसार देवराज इन्द्र ने, देवगुरू बृहस्पति के पुत्र ब्रम्हचारी एवं तेजस्वी कच को बुलाया। कच को बुलाकर इन्द्र ने उससे कहा,

"हे श्रेष्ठ गुरूपुत्र! हम सब में आप ही योग्य है। आप ही हमारी समस्या का समाधान कर सकते हैं। हमारी इच्छा हैं कि आप शुक्राचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर उनसे संजीवनी मंत्र ले आवें।

"देवेन्द्र! आचार्य शुक्र मुझे क्यों शिष्य रूप में ग्रहण करने लगे? मैं देवगुरू बृहस्पति का पुत्र हूँ। वह मुझे कभी भी शिष्य रूप में ग्रहण नहीं करेंगे तथा असुरराज वृषपर्वा भी ऐसा नहीं होने देंगे।" कच ने संशय प्रकट किया!

"प्रिय कच! मैंने उसका भो समाधान ढूँढ लिया है। दैत्य गुरू शुक्राचार्य की एक पुत्री है। जिसका नाम है 'देवयानी'। आचार्य शुक्र अपनी पुत्री को असीम स्नेह एवं सम्मान देते हैं। वे देवयानी की बात कदापि नहीं टालते। मैं तुम्हारे साथ कामदेब को भेज रहा हूँ। कामदेव देवयानी की देह में प्रवेश पायेंगे, जिससे देवयानी प्रथम दृष्टि में ही तुम पर आसक्त हो जायेगी। उसके हठ को टालना शुक्राचार्य के लिए सम्भव नहीं है"। देवेन्द्र ने कच को अपनी योजना समझाई।

देवेन्द्र की योजना को, वहीं पर खड़े कामदेव तथा चन्द्रमा भी सुन रहे थे इन्द्र की बात को सुनकर कामदेव हड़बड़ा गये और उन्होंने कहा,

"देवेन्द्र ! मैं कच के साथ कदापि नहीं जाऊंगा। शुक्राचार्य महाक्रोधी हैं। यदि उन्होंने योग दृष्टि से मुझे देख लिया तो उनके कोप से मुझे ब्रम्हा, विष्णु, महेश भी नहीं बचा सकते हैं। मैं भयभीत हूँ। मैं नहीं जाऊँगा।"

इन्द्र मुस्कराये ! आगे बढ़कर उन्होंने कामदेव के कंधे पर अपनी बाहें फेंक दी और उसको सांत्वना देते हुए कहा,

"कामदेव ! तुम कतई भयभीत न हो। मैं तुम्हारे साथ हूँ ! तुम्हारी रक्षा के लिए मैं चन्द्रमा को भेज रहा हूँ। तुमसे पूर्व ही चन्द्रमा चुपके से शुक्राचार्य के मस्तिष्क में प्रवेश कर जायेगा। चन्द्रमा, शुक्राचार्य के मस्तिष्क को सम्पूर्ण शीतल कर देगा। जिससे शुक्राचार्य को क्रोध होगा ही नहीं। इसलिए तुम्हारा भय निराधार है मित्र !"

इन्द्र की योजना के अनुसार देवगुरू बृहस्पति के पुत्र कच, अजेय कामदेव तथा असीम शीतलता को देने वाले चन्द्रमा वहां से प्रस्थान कर गये। वे तीनों, दैत्यगुरू शुक्राचार्य के सुरम्य एवं पावन आश्रम के समीप प्रकट हो गये। सर्वप्रथम चन्द्रमा ने चुपके से आचार्य शुक्र के मस्तिष्क में प्रवेश कर लिया तथा उनको असीम शीतलता, शान्ति और सुख की अनुभूति देने लगा। उसके उपरान्त कामदेव ने अदृश्य रूप से देवयानी की देह में प्रवेश कर लिया। कामदेव उसके मन, बुद्धि और विचारों में बैठकर उसके निर्मल भोले और कोमल मन पर अपनी माया से मोहासक्त कल्पनाओं को जन्मने लगा। उसके बाद बृहस्पति पुत्र कच, ऋषि की कुटिया के सामने प्रकट हो गया। कच ने आगे बढ़कर प्रफुल्लित मन से आचार्य शुक्र को दण्डवत प्रणाम किया। आचार्य शुक्र उसको देखकर चौंक उठे और पूछा,

"तेजस्वी बालक ! तुम कौन हो ?"

"गुरूदेव ! मेरा नाम कच है। देवगुरू का मैं पुत्र हूँ। आपके पावन चरणों में कोटि–कोटि प्रणाम करता हूँ ! विनीत होकर कच ने उत्तर दिया।

'देवगुरू बृहस्पति के पुत्र कच ?' आचार्य शुक्र चौंक उठे, उन्होंने फिर कहा, 'बालक ! तुमने यहां आने का साहस किस प्रकार किया ? क्या तुम नहीं जानते कि

यह प्रदेश असुरराज वृषपर्वा द्वारा रक्षित है। यहां तुम निरापद नहीं आये हो। तुम्हारे आने का कारण क्या है ?'

'गुरूदेव ! मैं आपके द्वारा शिष्यत्व ग्रहण करने की कामना को लेकर आया हूँ ! कृपया मुझे शिष्य रूप में ग्रहण करें। आपके पावन आश्रम की सेवा करने की कामना भी लेकर आया हूँ।' कच ने विनीत होकर कहा।

आचार्य शुक्र की मुखमुद्रा गम्भीर हो उठी। कुछ क्षणों तक आचार्य मौन गम्भीर चिन्तन करते रहे। उसके उपरान्त उन्होंने कच को संबोधित करते हुए कहा, 'यह असम्भव है बालक ! तुम्हें निराश ही जाना होगा'। देवयानी जो कि मौन बैठी सब सुन रही थी, उससे न रहा गया। उसने पिता शुक्र से प्रश्न कर ही दिया,

"पिताश्री ! मेरी धृष्टता को क्षमा करें। क्या मैं जान सकती हूँ, कि इस युवक को निराश क्यों लौटना पड़ेगा ? क्या यह योग्य पात्र नहीं है ?" देवयानी ने पूछा।

'यह योग्य पात्र है। परन्तु······ !

"फिर आप इसे निराश क्यों करते हैं ? जब यह योग्य पात्र है, तो इसे कदापि निराश नहीं लौटना होगा। पिताश्री ! असुरों से भयभीत होकर यदि आचार्य शुक्र भी उचित धर्म धारण नहीं कर सकते, तो वे इस असुर प्रदेश का परित्याग क्यों नहीं कर देते ? पिताश्री ! भय से धर्म का त्याग सर्वथा अनुचित है, ऐसा तो आपने मुझे पढ़ाया है ?"

देवयानी के सशक्त तर्क आचार्य शुक्र को निरूत्तर कर गये। उन्हें अपनी बेटी देवयानी की बात माननी ही पड़ी कच ने आचार्य शुक्र का शिष्यत्व पाया। गुरू की सेवा में लीन हो गया।

गुरू से आज्ञा लेकर कच आश्रम की गौवों को चराने जंगल चल दिया। वन में गौयें चराते समय उसे असुरों ने देखा। गुरू शुक्राचार्य की गौवों के साथ यह नया बालक कौन है ? जिज्ञासावश उन्होंने कच का परिचय जानना चाहा। कच ने उत्तर दिया,

मैं देवगुरू बृहस्पति का बेटा तथा दैत्यगुरू शुक्राचार्य का शिष्य हूँ।"

"तुम हमारे शत्रुओं के गुरू पुत्र हो। हमारे गुरू शुक्र के यहां शिष्यत्व लेकर तुम कौन सा कार्य सिद्ध करना चाहते हो?" असुरों ने पूछा।

"मैं झूठ नहीं बोलता हूँ। इसलिए तुम्हें सच ही बताता हूँ। गुरू शुक्राचार्य से संजीवनी मंत्र ही लेने आया हूँ।" कच ने सरलता से उत्तर दिया।

असुरों ने सुना तो वे स्तब्ध रह गये। कच केवल देवगुरू का बेटा ही नहीं है। वरन् देवों का पक्ष सिद्ध करने के लिए शुक्राचार्य से संजीवनी मंत्र पाने की भी इच्छा रखता है। यह बालक तो अनर्थ कर देगा। इसे तत्क्षण समाप्त कर देना चाहिये। ऐसा विचार करके असुरों ने तत्क्षण कच को मार डाला। उसके टुकड़े-टुकड़े करके जंगल में छितरा दिये और भाग गये।

सांझ ढली! गौवें लौटी! आश्रम के बरामदे में खम्भे का सहारा लिए खड़ी देवयानी की आंखें कच को ढूंढती रही। कच नहीं लौटा। एक-एक करके सारी गौवें आश्रम की गौशाला में प्रवेश पा गयीं। देवयानी की व्याकुल आँखें प्रत्येक गाय के पीछे दौड़ती जातीं! शायद कच आ रहा हो? परन्तु कच नहीं लौटा। दूर-दूर तक अंधेरा फैलता चला गया। कच का कहीं पता नहीं था। तड़पती, बिलखती देवयानी दौड़ी हुई शुक्राचार्य के पास गयी। उसने कहा, कच नहीं लौटा है। आचार्य शुक्र ने उत्तर दिया।

"बेटी! मैं तो पहले ही कहता था, कि इसे यहां मत रोको। इसका यहां रूकना निरापद नहीं है"।

"पहले आप देखिये तो कि उसका क्या हुआ है?" देवयानी ने विह्वल होकर कहा। आचार्य शुक्र ने मंत्र-अभिमंत्रित-अक्षत चारों ओर फेंके तथा आवाज दी,

"कच तू कहां है?

वनों और पेड़ों के पास गूंजती हुई आवाज उठी, "गुरूदेव! मैं यहां हूँ। इस सघन वन में मांस के लोथड़ों में छितराया हुआ हूँ। असुरों ने मुझे मारा है और मेरे शरीर को क्षत-विक्षत कर मांस के लोथड़ों में छितरा गये।"

"सुना बेटी तुमने! मेरा भय सत्य निकला। असुरों ने उसे मार डाला है। अब तुम शान्त हो जाओ।" आचार्य शुक्र ने बेटी को समझाया।

'पिता श्री ! आप असुरों को ही प्यार करते हैं। कच को शिष्य रूप में ग्रहण कर भी आपके मन का भेद नहीं मिटा है। संजीवनी मंत्र से असुर जीवित हो सकते हैं, तो बेचारा कच क्यों नही जीवित हो सकता है ? आप भय से तो धर्म की राह चलना नहीं चाहते। परन्तु कच को संजीवनी मंत्र से जीवित करने में, धर्माचरण में आपको संकोच है'। रोते हुए देवयानी ने अपने पिता पर आक्षेप किया। शुक्राचार्य चौंक पड़े। उन्हें पहली बार आभास हुआ, कि देवयानी कच की ओर बहुत दूर तक खिचती चली गयी है। आचार्य शुक्र हँसे ! उन्होंने संजीवनी मंत्र का प्रयोग कर दिया। कच जीवित होकर कुटिया में लौट आया।

अगले दिन फिर कच गौवों को चराने के लिए जंगल चल दिया। कच को जीवित देखकर असुर समझ गये, कि दैत्यगुरु ने कच के लिए संजीवनी मंत्र का प्रयोग किया है। असुर भयभीत हो उठे। मन ही विचार करने लगे, कि इस बालक का क्या किया जाए ? उन्होंने आपस में मन्त्रणा की। एक योजना बनायी। कच को पकड़ लिया। उसको मार डाला। उसकी मृत देह को जलाकर राख कर दिया। भस्मी को भी नदी में प्रवाहित कर दिया। असुरों का यह षडयन्त्र भी सफल नहीं हुआ। शाम को जब कच नहीं लौटा, देवयानी तड़पी तो आचार्य शुक्र ने पुनः संजीवनी मन्त्र का प्रयोग कर कच को नदी से वापस बुला लिया।

तीसरे दिन फिर कच गौवें चराने चल दिया। कच को देखकर असुर समूह पुनः भयभीत और क्रोधित होकर आपस में विचार–विमर्श करने लगे। उन्हें लगा कि कच को मारने मात्र से काम नहीं चलेगा। आचार्य शुक्र भी सठिया गये हैं और जिद्दी भी हैं। आचार्य, कच को संजीवनी मंत्र से पुनः–पुनः जीवित करते रहेंगे। ऐसा सोच कर उन्होंने एक विलक्षण योजना बनाई। उन्होंने कच को मार डाला उसकी भस्मी बना दी। भस्मी को भी अति सूक्ष्म करके, खाद्य और पेय पदार्थों में मिलाकर, आचार्य शुक्र को ही खिला–पिला दिया। प्रसन्न मन से असुर चले गये।

सांझ ढली ! गौवें लौटी ! नित्य की भांति कच उनके साथ नहीं था। देवयानी के पुनः कहने पर आचार्य शुक्र ने मन्त्र अभिमंत्रित किये अक्षत चारों ओर फेंके और आवाज लगाई, 'कच तू कहां है ?'

शुक्राचार्य के भीतर से आवाज, गूंजती हुई लौटी।

'गुरूदेव ! मैं यहां हूँ ! असुरों ने मुझे मार कर भस्मी बनाया तथा मेरी भस्मी को पेय, रस तथा व्यंजनों में मिलाकर आप को ही खिला दिया है। मैं आपकी देह में प्रवेश पा गया हूँ।

शुक्राचार्य ने सुना, तो स्तब्ध रह गये। दैत्य गुरू को अपने किये पर ही बहुत क्रोध आया। वह दुखी होकर, पश्चाताप करने लगे। कुसंगत के कारण आज उन्होंने ऐसे भोजन को ग्रहण किया था, जो उनके लिए सर्वथा अनुचित था। (शुक्राचार्य के बहुत से अन्य नामों का प्रयोग भी ग्रंथों में आता है। शुक्राचार्य के कुछ नाम हैं, उशनस, उशनन तथा उशन्ति आदि। यह कथा भी बहुत से ग्रन्थों में आयी है।)

शुक्राचार्य के मौन प्रायश्चित से देवयानी को कोई शान्ति नहीं मिल पायी, उसने विलखते हुए अपने पिता से पूछा।

"पिता श्री ! अब कच का क्या होगा ?

'बेटी ! मैं कच को जीवित नहीं कर सकता। यदि कच को जीवित कर दूंगा, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी'। शोक संतप्त शुक्राचार्य ने उत्तर दिया।

देवयानी फूट-फूट कर रोने लगी। न जाने कितनी देर तक वह इसी प्रकार रोती रही। शुक्राचार्य उसे ढाढ़स बंधाने का निरन्तर प्रयास करते रहे। देवयानी को लगता कि कच के बिना सारा संसार व्यर्थ है। देवयानी को लगता कि कच के बिना वह एक क्षण भी नहीं जी पायेगी। शुक्राचार्य सभी प्रकार से समझाने बुझाने की कोशिश करते रहे। परन्तु देवयानी की असह्य पीड़ा का उनके पास कोई उपचार नहीं था। देवयानी ने अग्नि में प्रवेश करने की ठान ली। उठकर लकड़ियां बटोरने चल दी। शुक्राचार्य फूट-फूटकर रोने लगे। उन्होंने देवयानी से कहा,

'देवयानी ! तुम इस अग्नि में प्रवेश मत करो ! बेटो ! तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। मैं बूढ़ा भी बहुत हो गया हूँ। इसलिए मैं कच को जीवित कर देता हूँ। तुम कच के साथ सुखपूर्वक रहो'। ऐसा कहकर शुक्राचार्य संजीवनी मन्त्र का प्रयोग करने की तैयारी करने लगे। देवयानी ने उन्हें रोक दिया और कहा,

'पिताश्री ! आपके बिना मैं भी तो नहीं जी सकती। आप कृपया ऐसा न करें ! अब तो मुझे इस अग्नि में प्रवेश करना है। यही मात्र उपाय है'।

देवयानी की देह संकल्प के साथ उठी। चेहरे पर आत्म-संकल्प की ज्योतियां नृत्य कर रही थी। स्थिर कदमों से वह चिता की अग्नि की ओर बढ़ने लगी। शुक्राचार्य इस दृश्य को देख सकने की सामर्थ्य खो बैठे। फूट-फूटकर रोते हुए उन्होंने दौड़कर देवयानी की बांह पकड़ ली और कहा :–

"बेटी ठहरो ! तुम्हारे बिना तो तुम्हारा बूढ़ा पिता भी नहीं जीवित रह सकता। मेरे पास एक और उपाय है। जिससे कच भी जीवित हो जाये और मैं भी न मरूँ"। देवयानी अपने पिता के पास लौट आयी। शुक्राचार्य ने कच से कहा–

'देखो कच ! मेरे पास एक ही उपाय है। जिससे हम दोनों जीवित रह सकते हैं। मैं तुम्हें संजीवनी मन्त्र देता हूँ। उस मन्त्र को तुम मेरे शरीर के भीतर समाधिस्थ होकर ग्रहण करो। तुम्हें मन्त्र देने के उपरांत मैं उसी मन्त्र से तुम्हें जीवित कर दूंगा। ऐसा करने पर मेरी तत्क्षण मृत्यु हो जायेगी। तुम मेरे वाम अंग को फाड़कर बाहर आओगे। वाम अंग पत्नी का होता है। जब तुम मेरे वाम अंग को फोड़कर बाहर आ जाओ, तो मेरे द्वारा दिये मंत्र से, मुझे जीवित कर देना। तुम्हारा कल्याण होगा"। आचार्य शुक्र ने अपने शिष्य को अपने ही शरीर के भीतर संजीवनी मंत्र प्रदान किया। फिर संजीवनी मन्त्र से उन्होंने कच को जीवित किया। कच उनके वाम अंग को फाड़कर प्रकट हुआ। कच ने शुक्राचार्य को मंत्र के द्वारा जीवित किया। कच का उद्देश्य सफल हुआ।

उपरोक्त ऋग्वेद की ऋचा में यह कथा उदाहरण स्वरूप ग्रहण की गयी है। जिस प्रकार इन्द्र का भेजा हुआ कच, (उशन्ति) अर्थात् शुक्राचार्य के वाम अंग को फाड़कर प्रकट हो गया था। उसी प्रकार हे यज्ञ ! हे प्राणवायु ! तुम्हारे द्वारा आत्म-कुण्ड में निचोड़े इस अमर-जीवन रूपी अमृत का पान उसी ने किया। जो कच की भांति स्वयं को पूरी तरह से मिटा गया। जिसने सम्पूर्ण बाह्य को मिटाकर अपने अन्तर में प्रवेश पाया, उसी ने संजीवनी मंत्र पाया।

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत् ॥१.२.५.

ब्रम्ह ज्वालाओं में तुम्हारे द्वारा चैतन्य अमृत का पान कौन कर पाया ? बनके साँकल्य जो यज्ञ हुआ अपनी ही आत्म ज्वालाओं में !

(वायविन्द्रश्च) हे महान प्राण वायु ! तुम्हारे द्वारा (चेतयः) चैतन्य किये हुए तथा (सुतानाम्) निचोड़े हुये इस अमृत को अर्थात् जीवन को जिसने अपनी ही आत्मयज्ञ की ज्वालाओं को समर्पित कर दिया। (वाजिनीवसू) जो बनकर सांकल्य (तावा) अर्थात् निचोड़े हुए इस अमृत से बने इस शरीर को सांकल्य की भांति (यातमुप द्रवत) अपनी आत्म ज्वालाओं में न्योछावर कर देता है, यज्ञ कर देता है। अपने आप को उन्हीं आत्म-अग्नियों में व्याप्त कर, निचोड़ देता है। ऐसा व्यक्ति ही यज्ञ की सफलता को प्राप्त होता है। महा संजीवनी मंत्र पाता है।

हे वायु ! यज्ञों के द्वारा निरन्तर जीवन संजीवनी का संचार करने वाले ! मेरे जीवन की सफलता, सम्पूर्ण जीवन को यज्ञमय बना, अपने ही अन्तर में व्याप्त हो जाने की है। जीवन उसी का है। जिसने इस शरीर रूपी सामग्री को, आत्मस्थ हो आत्म ज्वालाओं में यज्ञ किया है। वही इस प्रकृति के अकाट्य नियमों को जानने वाला है। परमेश्वर के द्वारा लिखे जा रहे अहर्निश धर्म ग्रंथ अर्थात् इस प्रकृति को और उसके नियमों का यथा अनुसरण करने वाला हैं। मेरे जीवन का एक-एक क्षण मेरी ही आत्म ज्वालाओं में आत्मस्थ हो यज्ञ हो जाये। आवागमन को जाने वाला यह जीव, महा संजीवनी मंत्र पाये याचक, एक-एक क्षण की भीख मांगने वाला ; महा संजीवनी मंत्र पाकर दाता बने। सम्पूर्ण प्रकृति में जीवन रस बरसाये ! धरती का देवता कहाये !

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्ष्वित्था धिया नरा॥ १.२.६.

आकर मिट गया जो, तुम्हारी ही बम्हाग्नियों में! यज्ञ के द्वारा नित्य स्थायित्व को पाया उसने ! हे प्राणवायु ! अमर हुआ वह !

(वायविन्द्रश्च) हे प्राण वायु ! आप के तथा महा आचार्य अर्थात् आत्मा के द्वारा (सुन्वत) उत्पन्न किये हुए, अमृत को वही ग्रहण करता है। जो (आयातम) आकर (उप) व्याप्त हो जाता है अर्थात् स्वयं को आत्मा रूपी यज्ञ में व्याप्त कर देता है। (निष्कृतम) व्याप्त होकर आत्मा में जो सम्पूर्णता और व्यापकता से यज्ञ होकर, यज्ञ स्वरूप हो जाता है (मक्ष्वित्था) आत्मा में स्थित हुए अर्थात् आत्मस्थ हुए आत्म स्वरूप हो गया, यज्ञ पुरुष ही (नरा) ब्रम्ह ज्वालाओं के द्वारा यज्ञ

की अग्नियों के द्वारा उस अमृतमय स्वरूप में (धिया) प्रकट होता है अर्थात् उस स्वरूप को धारण करता है।

हे प्राण वायु ! सम्पूर्ण सचराचर में सभी यज्ञों में आत्मा रूपी आचार्य के साथ उपाचार्य स्वरूप प्रतिष्ठित होने वाले ! आपके तथा आत्मा के द्वारा ब्रम्ह ज्वालाओं में, आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड की अग्नियों में उत्पन्न हुए, प्रकट हुए, अमृत का पान वही करता है ; जो स्वयं को जीवन्त एवं व्यापकता से अपने ही अन्तर में आकर, ब्रम्ह ज्वालाओं को धारण करने वाले यज्ञ पुरुष के ज्योतिर्मय स्वरूप में जन्मता है, प्रकट होता है।

शहद की मक्खियां पुष्प–पुष्प पर भटक कर शहद के कणों को बटोरती हैं। वे शहद की मक्खियां अपने द्वारा उस अर्जित शहद को कृष्ण पक्ष की अंधेरी रातों में ग्रहण नहीं करती, भूखी रहकर, शुक्ल पक्ष की उजेली रातों की प्रतीक्षा करती हैं। शुक्ल पक्ष की उजेली रातों में, शहद की मक्खियां, अपने द्वारा अर्जित मधु का पान करती हैं। शहद बटोरने वाले इस सत्य से भली भांति परिचित होते हैं। इसी-लिए वे अमावस्या के पास में मधुमखियों के छत्तों से शहद एकत्र करते हैं। शहद बटोरने वाले यह भी जानते हैं कि शुक्ल पक्ष की उजेली रातों में उन्हें खाली मक्खियों की झोंझे ही मिलेंगी, उसमें शहद नहीं होगा।

रे मनुज ! उन शहद की मक्खियों की भांति ही तूने भी जन्म–जन्म, योनि–योनि, भटक कर मनुष्य योनि के इन क्षणों को शहद की मक्खियों की भांति एकत्र किया। न जाने कितनी योनियों में कितने जन्म तपा। तब मनुष्य योनि के ये दुर्लभ क्षण तूने पाये ! चाहे तो विषय वासनाओं की अन्धता में, वासनाओं और विषयों की काली अंधेरी रातों में, तू अपने इस अर्जित मधु का पान कर ! अर्थात जीवन को नष्ट कर ! पुनः आवागमन की राह पर, जन्म–जन्म भटका, तू स्वयं को। तू चाहे तो आत्म ज्वालाओं की स्निग्ध ज्योतियों में, जीवन के शुक्ल पक्ष में, जीवन के अमृतमय क्षणों को आत्मस्थ होकर भोगे तथा मनुष्य योनि के अभीष्ठ को प्राप्त हो। आज तुझे स्वयं को निर्णय लेना है। आत्मस्थ, आत्मज्वालाओं के शुक्ल पक्ष में जीवन को भोगे अथवा वासनाओं के अन्धेरे पक्ष की अमावस को जीवन की राह बनाये ! जिसने स्वयं आत्मा के ही उजाले पक्ष में स्वयं को विसर्जित किया;

सांकल्य रूप तिरोहित हुआ अपनी ही आत्माग्नियों में ! मिटा चला अपना अस्तित्व ! ब्रम्ह ज्वालाओं ने उसे यज्ञ स्वरूप, नित्य स्वरूप बना, यज्ञ का सम्मान प्रदान किया ! नित्य हुआ वह !

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियं घृताचीं साधन्ता ॥१.२.७.

प्रज्जवलित महाप्रलय में जला कर सब कुछ, हुए जो अकिंचन ! धारण करते ब्रम्हज्ञान ! मिलती उन्हें अमर ज्ञान की सरस्वती !

जिसने अपने अंतर में (दक्षम्) प्रलय की अग्नियों को प्रज्जवलित किया (मित्रम् वरूणं) मित्र तथा वरूण आदि महा प्रलय के द्वादश आदित्यों का अपने ही अन्तर में आहवान किया। (च) तथा उन महा प्रलय की ज्वालाओं में (रिशादसम्) जिसने अपना सर्वस्व जला डाला। जलकर अपनी ही आत्म ज्वालाओं में जो हो गया (पूत) पवित्र, निर्मल और निष्पाप ! जलकर अपनी ही ब्रम्ह अग्नियों के महा प्रलय में वह [साधन्ता) हो गया, अकिंचन, निर्धन, साधन हीन [धियम् घृताचीं] वही धारण करता है, ब्रम्ह विद्या को, अमर ज्ञान को। उत्पत्ति और मृत्यु के रहस्यों को।

हे प्राण वायु ! जिसने अन्तर आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड में महा प्रलय द्वादश आदित्यों को प्रज्वलित किया ! धधक उठी महा प्रलय की द्वादश अग्नियां जिसके अन्तर हृदय में ! जला दी; जिसने सम्पूर्ण लिप्सायें, वासनायें और इच्छायें ! कर दी हत्या जिसने सम्पूर्ण सांसारिकताओं की ! मिटाकर अपना सबकुछ, महा प्रलय की अग्नियों में जल कर पवित्र और अकिंचन हुआ ऐसा साधन रहित, ऐसा निर्धन ही ब्रम्ह ज्ञान-विद्या रूपी अमर धन को पाता है। ब्रम्ह ज्ञान के ऐश्वर्य को ऐसा निर्धन ही प्राप्त होता है।

भरा घड़ा जल का कितनी ही नदियों में डुबाओं तुम, क्या उसमें जल आ पायेगा ? पहले से भरा घड़ा, भरा–भरा ही डूबेगा। ज्यों का त्यों बाहर निकल आयेगा। खाली न होगा वह तो भरेगा क्या ? जिसने अपने सारे घड़े आत्म-ज्वालाओं में उड़ेल दिये। तपाकर स्वयं को प्रलय की अग्नियों में, जिसने अन्तर के घड़े को पवित्र किया, उसी ने ब्रह्म–विद्या रूपी ज्ञान रस से अपने अन्तर के घट भरे।

एक गांव का एक गरीब किसान, एक बड़े राजा के यहां न्योता पा गया। बड़ा ही बहुमूल्य और स्वादिष्ट भोजन पाया उसने। लौटकर गांव आया तो सबको बताने लगा, कि आज बहुत ही कीमती भोजन उसने खाया है। अगले दिन जब वह लोटा लेकर दिशा–मैदान को जाने लगा, तो बहुत दुखी हो गया। इतने कीमती भोजन का उसे घाटा जो उठाना पड़ेगा? आप ही बताइये? यदि वह घाटे को बचायेगा तो क्या होगा? पेट सड़ जायेगा। किसान मर जायेगा।

यूं मर जाते हैं, हम सब विद्वान! ग्रन्थों और पोथों के बहुमूल्य ज्ञान को हम किसान के भोजन की तरह पेट में भरे जो रहते हैं। भीतर के घड़ों को उस तथाकथित बहुमूल्य ज्ञान रूपी धन से खाली नहीं कर पाते हैं। उस किसान की तरह मर जाते हैं।

भोजन वही, जो पच जाये! ज्ञान वही, जो आत्मस्थ हो जाये! अनपचा भोजन चाहे कितना ही बहुमूल्य क्यों न हो, अगली सुबह विसर्जित करना जरूरी है। उसी प्रकार, जैसे पेट में भोजन अगली सुबह विसर्जित करना जरूरी है, उसी प्रकार आत्मस्थ हुआ नहीं जो अमृतमय ज्ञान भी, उसे अगली सुबह विसर्जित करो! अकिंचन बनो! जिससे आत्मस्थ ज्ञान की नयी भूख लगे।

काले घनेरे बादल गगन पर छाये रहें, परन्तु उनमें पानी की एक बूंद न बरसे! नन्हें पौधों को जीवन रस तो मिलेगा नहीं, उल्टे कीड़े और पड़ जायेंगे। वह ज्ञान जो जीवन में नहीं बरसा है, वह मुझे मोक्ष नहीं दे सकता है मिथ्याभिमान के तथा अंधे दम्भ कुछ नये कीड़े और अधिक उत्पन्न कर देगा। बादल वही बरस जायें! ज्ञान वही जो आत्मस्थ होकर जीवन के प्रत्येक क्षण में रस जाये!

भाग्यवान होगा तू! जला महा प्रलय की अग्नियों को अपने अन्तर में! जला दे सबकुछ और पवित्र तथा अकिंचन हो! तेरे अन्तर के उस पवित्र घट में ब्रह्म ज्ञान रूपी रस भरे। अंकिचन ही ब्रम्ह ज्ञान पाता है। भरे घड़े सा विद्वान भटकता ही रहता है। अकिंचन बनो स्वयं में ग्राह्यता आने दो! आत्म ज्ञान के अन्तर के घड़े रीते करो!

ऋ॒तेन॑ मि॒त्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं॑ बृहन्तमाशाथे॥१.२.८.

आत्मज्ञान के जिसने प्रलय का आवाहन किया ! उसने आत्म ज्ञान बढ़ाया। आत्म स्पर्श पाया ! आत्मा में यज्ञ हुआ और वह अनन्त सर्व व्यापी हो गया !

(ऋतेन) आत्म ज्ञान के लिए (मित्रारूणा) जिसने महा प्रलय का आवाहन किया (क्षरतावृधा) महा प्रलय की लपटों में बैठकर जिसने आत्मस्थ ज्ञान की वृद्धि की [ऋतस्पृशा] आत्मा का स्पर्श अर्थात अद्वैत पाया जिसने। [क्रतुम्] ऐसे यज्ञ को करने वाला ही [बृहन्तम] अनन्त में [आशाथे] व्याप्त हो जाता है।

ब्रम्ह ज्ञान के लिए जिसने जीवन के सम्पूर्ण क्षणों को आत्मस्थ होकर जिया हो। अपने अन्तर में महा प्रलय की अग्नियों को प्रज्वलित कर जिसने सम्पूर्ण बाह्य भटकावों को, स्मृतियों को जलाकर भस्मसात् कर दिया हो। होकर अकिंचन जिसने अपने अन्तर के खाली घट को पुनः ब्रम्ह ज्ञान से भरा हो ! ब्रम्ह ज्ञान के उस घट का पान कर जो आत्मा का अद्वैत पा गया हो ? बात उसकी करो ! गीत उसी के गाओ! वही उस सर्वव्यापी अनन्त परमेश्वर मेंव्याप्त हो तद्रूप हो जाता है!

रे जीव ! चल भीतर अपने ! अपने आत्मा रूपी कृष्ण को पहचान ! अपनी ही आत्म-ज्वालाओं में महा प्रलय के द्वादश आदित्यों का आवाहन कर ! फिर सब कुछ जल जाये। उन आत्म-ज्वालाओ में अपने सारे मैल को जलाकर सोने सा पवित्र हो। खाली हो गये अपने अन्तर को आत्मस्थ ज्ञान से भर ! आत्मस्थ ज्ञान की धाराओं में प्रवाहित आत्मा से अद्वैत कर ! जीव रूपी यजमान हो, आत्म ज्वाला रूपी यज्ञ की अग्नि बन आत्म-स्वरूप हो, यज्ञ का अधिष्ठित देव आत्मा स्वरूप कहला। प्राण रूपी उप ऋत्विज कहा ! मैं को, मुझे जला ! मैं में, मैं को मिला! मुझे में ही इतना मर कि अमर हो जा ! ऋग्वेद की धाराओं को महा प्रलय की अग्नियों सा अपने ही अन्तर में प्रवाहित होने दे। प्रत्येक क्षण को आत्मस्थ ज्ञान का रस पीने दे।

क॒वी नो॑ मि॒त्रावरु॑णा तुविजा॒ता उ॑रु॒क्षया॑। दक्षं॑ दधाते अ॒पस॑म्॥१.२.९.

हे आत्मा ! हे ईश्वर ! प्रलय और उत्तपत्ति को धारण करने वाले ! महा प्रलय में हमें जला ! उद्धार कर हमारा ! हमें नये वर्ण में ला !

[कवी] हे आत्मा [उरूक्षया] हमारे अन्तर हृदय में वास वाले, अक्षय ब्रम्ह ! हे प्रभु ! [मित्रावरूणा। महा प्रलय के इन आदित्यों से हमारे अन्तर को प्रज्जवलित होने दे हे। आत्मा [विजाता] हमको वर्ण-संकर करने वाले [दक्षम्] अग्नियों के द्वारा [अपसम्] प्रलय और उत्पति करने वाले, [नौ] हमको।

हे आत्मा ! हे परमेश्वर ! प्रलय और उत्पत्ति के द्वारा हमको वर्ण-संकर बनाने वाले ! हे घट-घट वासी ! मिट्टी वर्ण से यज्ञों के द्वारा अर्थात अग्नियों के द्वारा यज्ञ करके हमें फलों के वर्ण में लाने वाले तथा फलों के वर्ण से पुनः ब्रम्ह ज्वालाओं में यज्ञ कर, हमें वर्ण-संकर कर हमें मनुष्य के वर्ण में प्रकट करने वाले ! हे परमेश्वर ! आज हमें फिर वर्ण संकर कर ! जिस प्रकार भस्मी के वर्ण से तुमने हमें वर्ण संकर किया तो हम बन गये फल ! जिस प्रकार फलों के वर्ण संकर होने पर हम बालक के रूप में प्रकट हो गये। इसी प्रकार हे आत्मा। हे घट-घट वासी! हमारे अन्तर में महा प्रलय की ज्वालाओं को प्रज्जवलित कर ! प्रलय और उत्पत्ति के अपने पुराने खेल को एक बार फिर दुहरा दे। महा प्रलय की ज्वालाओं में हम जलें अपने ही अन्तर में ! प्रत्येक प्रलय के बाद उत्पत्ति है ! हम इस महाप्रलय के उपरान्त पुनः वर्ण संकर हों। मनुष्य के वर्ण से, अमर देव के वर्ण को अर्थात देवत्व को प्राप्त हों। तेरे अमर पुत्र कहायें ! खेत की मिट्टी अमर होकर, गगन की ऊचाइयां व्यापकता और अमरता पाये !

ऋग्वेद प्रवचन गंगा की धाराओं में हम निरन्तर झूमते हुए बढ़े चले जा रहे हैं। प्रथम मण्डल के प्रथम ऋषि मधुछन्दा, के प्रथम दो सूक्त हम पर स्पष्ट हो चुके हैं।

प्रथम सूक्त में हमने जाना, कि ब्रम्ह अर्थात आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठित देव है। आत्मा ही परमेश्वर है तथा आत्मा ही 'ऊँ'' के रूप में जाना जाता है। आत्मा नारायण स्वयं हैं ! घट–घट वासी होकर सम्पूर्ण सचराचर में निरन्तर हो रहे, उत्पत्ति रूपी, यज्ञों के अधिष्ठित देव हैं। दूसरे सूक्त में यज्ञ के उपाचार्य के रूप में प्राण वायु, की चर्चा हुई। आत्मा आचार्य है तथा प्राण उपाचार्य। इसे पिछले अंकों में विस्तार पूर्वक ग्रहण किया है।

सनातन धर्म ने, धर्म ग्रन्थ के रूप में, प्रकृति को ही ईश्वर द्वारा लिखा गया धर्म ग्रंथ माना है। सम्पूर्ण जीवन्त सचराचर ही इसके अक्षर हैं। हम सब भी इस प्रकृति रूपी महाकाव्य के अक्षर हैं। यही मूल धर्म ग्रन्थ है।

वेद ने, मनुष्य की योनि को, किसी भी योनि से अलग नहीं किया है। वे की मान्यता है कि जीव नाना योनियों में विचरण करता है। इसका उल्लेख हमें उपनिषद तथा पौराणिक ग्रन्थों में भी मिलता है। चौरासी लाख योनियों की चच प्राचीन ग्रंथों में बहुत बार देखने में आती है। वेद ने मनुष्य योनि का परम लक्ष्य निर्धारित करते समय प्रकृति को ही अपने सामने रखा है। मनुष्य की योनि संस्कार को सुन्दर एवं ज्योतिमय बनाने के हेतु है। मनुष्य योनि में यदि हम अपने संस्कार को सुन्दर एवं ज्योतिर्मय बना लेते हैं तो हम अनन्त योनियों के सुख और वैभव क प्राप्त हो जाते हैं। इसे उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हैं।

हम इस प्रकृति को गम्भीरता से ग्रहण करें। जो कुछ भी दृश्य मात्र है वह निरन्तर पुनः पुनर्जन्म को प्राप्त हो रहा है। खेत की सड़ी हुई मिट्टी, सुन्द फलों और फूलों में प्रकट हो रही है। वनस्पतियां, नाना जीवधारियों के शरीरों में उनको संतति के रूप में जन्म ले रही है। गगन की ओर दृष्टि उठाकर देखे। सूक्ष कण (एटम्स) निरन्तर जुड़ते हुए नन्हीं गोलियों का रूप ग्रहण कर रहे हैं। नन्हीं-नन्ह गोलियां, क्षीरसागर में, जुड़ती हुई उल्काओं के स्वरूप को प्राप्त हो रही हैं। उल्का निरन्तर योग की प्रक्रिया में, ग्रहों और नक्षत्रों का रूप ग्रहण करके प्रकट हो रही हैं इसके विपरीत प्रक्रिया भी हम अपने चहुँ की ओर देख रहे हैं। नक्षत्र और ग्रह अप जीवन को समाप्त करते प्रलय को प्राप्त होता है। पुनः बिन्दुओं में विसर्जित हो जा हैं। बूढ़ा व्यक्ति, अपने जीवन को समाप्त कर, चिता की लकड़ियों पर, भस्मी कणों में निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। यही भस्मी, फिर खाद बनती है। यही खा फिर फल हो जाती है। ये फल और वनस्पतियां पुनः संतति के रूप में प्रकट हो लगती हैं। अनन्तकाल से, गगन से, लेकर धरा तक, जीवन इसी प्रकार गतिमान है पृथ्वी, सूर्य की परिक्रमा कर रही है। चन्द्रमा, पृथ्वी को परिक्रमा कर रहा है सूर्य भी अपने पूरे परिवार के साथ देवलोक की परिक्रमा कर रहा है। देवलो ब्रम्हलोक की परिक्रमा कर रहा है। देवलोक जैसे महा ग्रह भी निरन्तर "ब्रम्ह की परिक्रमा को प्राप्त हैं। सब कुछ निरन्तर गति को प्राप्त है। सब कुछ च रहा है। सब कुछ बदल रहा है। सब कुछ मिट रहा है। सब कुछ मिटकर पुनः प्रक हो रहा है। इसी को वेद ने यज्ञ की संज्ञा प्रदान की है।

एक प्रश्न पूछना चाहूँगा आपसे, "निरन्तर, गतिमान सचराचर में, क्या आप एक ही योनि में रुक पायेंगे" ?

"क्या आपके द्वारा, त्याज्य (मल) भी कहीं रूका है" ?

उत्तर एक ही है। इस मनुष्य योनि में आप भी स्थिर नहीं रह सकते हैं, तथा आपके द्वारा त्याज्य वस्तु भी पुनर-उत्थान को प्राप्त हो जाती है। आप भी इस निरन्तर परिवर्तन से बच नहीं सकते हैं। आपको भी मनुष्य योनि को त्याग कर, आवागमन की धाराओं प्राप्त को होना होगा। एक कल्पना रखता हूँ मैं, आपके सामने।

कल्पना करें कि आप इसी निरन्तर धारा में मनुष्य की योनि को खोकर पेड़ की फुनगी पर आकर बैठ गये हैं। पंजों से आपने टहनी को पकड़ रखा है, और पंखो को समेटकर, पक्षी के रूप में आप पेड़ पर बैठे हुए हैं। कल का मनुष्य, बदलती प्रकृति में, एक पक्षी होकर, पेड़ की शाखा पर बैठा हुआ है। कल्पना करें कि वह पक्षी और कोई नहीं, आप स्वयं हैं। अब पूछता हूँ आपसे कि आपके पास कितनी सम्पत्ति है ? कितना संरक्षण है? क्या पुलिस और कानुन आपके अधिकारों की रक्षा कर रहा है ? स्पष्ट है कि आप अब पूर्णत: ईश्वर पर आश्रित होकर, बिना किसी अन्य सहारे के, पेड़ पर बैठे हुए हैं। न पुलिस आपके हितों की रक्षा कर सकती है और न आपके पास आत्मरक्षा का कोई हथियार अथवा घर हो है। ईश्वर ही आपका रक्षक है। स्वयं को उस चिड़िया की मन: स्थिति में ढालने का प्रयास करें। वेद स्वत: स्पष्ट होने लगेगा।

यदि मनुष्य योनि में आप अपने दूषित संस्कारों को मिटाकर स्वयं को पूर्णत: आत्मस्थ स्थिति में ढाल पायें, तो चिड़िया की योनि भी आपको "पिकनिक" का आनन्द देगी। आपको हर योनि में असीम सुख तथा आनन्द का निरन्तर सागर तथा एक सुखद अवस्था प्राप्त होगी। इसके विपरीत संकीर्ण ईर्ष्या, घृणा, लोभ, मोह, मेरा–तेरा का भाव, एक भयाक्राँति आतंकित मन: स्थिति का जनक होगा। प्रत्येक योनि भयंकर, दुखद और असह्य पीड़ा को ही क्षण–क्षण जन्मेंगी।

पंजों से टहनी को पकड़ कर आप बैठे है। रात अंधेरी है। हवा में तेजी है। जितनी बार टहनी हिलेगी, उतनी–उतनी बार ही मौत की दहशत आपको मृत्यु तुल्य आतंक और भय देगी। हर बार जब टहनी हिलेगी। बिल्ली का भय, नाग का भय, न जाने कितने भय, आपको बार–बार आतंकित करते रहेंगे।

प्रत्येक मौत से पहले आप हजार-हजार बार भय की मौत मरेंगे। हर बार जब टहनो हिलेगो, मौत का भय गहरायेगा। आपका रोम-रोम भय से काँपेगा। रात का अंधेरा आपके भीतर भी एक काली, ठण्डी अंधेरी मौत को फैलाता चला जायेगा। जिसका कारण है, आपका ईश्वर में आत्मस्थ नहीं होना। ईश्वर का सहारा आपको नहीं है तथा इसके अलावा भी चिड़िया के रूप में आपके पास कोई सहारा नहीं है। मृत्यु का आतंक तो होगा ही।

इसके विपरीत, जिन्होंने पवित्र कर लिए हैं अपने संस्कार। उनकी मनुष्य योनि पूर्ण सार्थक है। प्रत्येक जन्म कृष्ण मय है। आत्मा होकर गोविन्द ही सब में वास करते हैं। जिसके मन में, संस्कार के रूप में स्वयं गोविन्द विराज रहे हो, उसे किसी भी योनि में भय कैसा ?

उसके संस्कारों में तो गोविन्द ही विराजते हैं। मृत्यु में भी वह गोविन्द का ही दर्शन करता है। मौत ही सुखद है, उसके लिए। मृत्यु से पहले वह कभी नहीं मरता। मृत्यु में भी वह सुखद गोविन्द में खो जाता है। उसकी मृत्यु उसके लिए वरदान बन जाती है।

रात के अन्धेरे में जब-जब पेड़ की टहनी हिलती है। उसे गोविन्द की बाहों में झूलने का अमिट आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए वेद ने माना है कि मनुष्य की योनि संस्कारों को पवित्र करने की योनि है। जिसने अपने संस्कार ईश्वर मय बना लिए, वह नाना योनियों में, इसी प्रकृति में, असंख्यों युगों तक, ईश्वर के परमानन्द को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जिसके संस्कार दूषित हो गये हैं। इसी योनि में असंख्य दुख, पीड़ा और घुटन को प्राप्त हुआ वह असंख्यों योनियों में, भयंकर दुख और पीड़ा को भोगने के लिए ही जाता है। प्रकृति की खुली किताब में, हर ओर पढ़ लो।

इसलिये, सब कुछ खो जाये, तो तुमने कुछ खोया नहीं है। परन्तु एक संस्कार भी दूषित रह गया है, तो तुमने बहुत कुछ खो दिया है। शरीर लुट जाये, धन वैभव का विनाश हो जाय, तो भी दुखी न हो। जिस दिन एक संस्कार भी भी तुम्हारे संग दोष के कारण अथवा बदले की भावना के कारण दूषित हो जाये, उस दिन मान लेना कि तुम्हारा सब कुछ लुट गया है। संस्कारों की पवित्रता ही

इस मनुष्य योनि की महानतम् उपलब्धि है। संस्कारों की पवित्रता ही इकलौता धन है। जिसका सुख तुम सब अनन्त काल तक असंख्य योनियों में उठाते हो। सावधान ! सावधान होकर अपने संस्कारों की रक्षा करो। वेद के आरम्भ में ही वेद की ऋचाओं से उभरता हुआ यह अमृतमय संस्कार रूपी ज्ञान हमने पाया है। यह ज्ञान ही जीवन का अमृत है। सच्चा सुख है।

शरीर एक यज्ञशाला है। आत्मा यज्ञ का आचार्य है। प्राणवायु यज्ञ का उपाचार्य है।यज्ञ की वेदी और यज्ञ की ज्वाला क्या हो ?

इस तीसरे सूक्त में वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्वा हमें यज्ञ की ज्वाला से परिचय करा रहे हैं। इस सूक्त में ब्रम्ह ज्वाला अर्थात् आत्मा रूपी अग्नियों को यज्ञ की ज्वाला के रूप में ग्रहण किया गया है। शरीर को सामग्रीवत् ग्रहण किया गया है। तीसरे सूक्त का आरम्भ करते हैं।

अश्विंना यज्वंरीरिषो द्रवंत्पाणी शुभंस्पती। पुरुंभुजा चनस्यतंम् ॥१.३.१.

हे ब्रम्ह ज्वाला ! आप ही यज्ञों द्वारा करती, भरण-पोषण और संहार ! असंख्य भुजाओं से असंख्य मुखो द्वारा सचराचर का करती भक्षण !

(अश्विना) हे ब्रम्ह ज्वाला ! आत्मा रूपी अग्नि ! (यज्वरीरिषो) यज्ञों के द्वारा भरण-पोषण एवं संहार करने वाली (द्रवत्पणी) लहराती भुजाओं वाली (शुभस्पती) सम्पूर्ण शुभत्व को धारण करने वाली (पुरुभुजा) असंख्य लपलपाती जिव्हाओं से (चनस्यतम्) सम्पूर्ण सचराचर का सामग्रीवत् भोजन करने वाली, अर्थात ब्रम्ह ज्वाला! "अश्विन" शब्द का अर्थ "सूर्य" तथा आत्मा के रूप में वेद में ग्रहण किया जाता है। "अश्विना" का अर्थ ब्रम्ह ज्वाला के रूप में सर्वत्र लिया गया है। देव शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए होता है। अश्विना तथा देवकी पर्यायवाची हैं।

हे ब्रम्ह ज्वाला ! देह रूपी यज्ञशाला में व्याप्त ब्रम्ह अग्नि ! तुम्हीं तो सम्पूर्ण सचराचर में यज्ञ की ज्वाला बन कर हमारा निरन्तर उद्धार करती हो। यज्ञ की ज्वाला के रूप में, हे मां ! आज हम तुम्हारा आवाहन करते हैं। यज्ञों के द्वारा तुम्हीं हमारा भरण पोषण और संहार करने वाली हो। भस्मी के रूप में हमारे ही अंगों को, जब तुमने प्रलय की अग्नि में जलाया तो यह भस्मी के कण अर्थात अंग

हमारे शुभत्व को ग्रहण करते, सुन्दर फल बन गये। जब-जब हम तुम्हारे गर्भ में समाये, तुमने हमारा संहार किया! हमें जलाया तथा अपनी ज्वाला के गर्भ से हमें नया रूप देकर प्रकट किया। इसलिए हे मां! इस दर्श-यज्ञ में तुम्हीं यज्ञ की ज्वाला बनो। इस यज्ञ में हम स्वयं को स्वयं में यज्ञ कर, नये रूप में प्रकट होना चाहते हैं। आपके ज्योतिर्मय गर्भ में समाये बिना, हमारे ये यज्ञ कदापि सफल नहीं हो सकते। हमारी आत्मा ही यज्ञ की अधिष्ठित देव अर्थात आचार्य है। बलवान वायु, प्राण वायु होकर, यज्ञ का उपाचार्य बना है। हे ब्रम्ह ज्वाला! हे सचराचर जननी! आप हमारी यज्ञ की ज्वाला बनें। हम सब आपका आवाहन करते हैं। सम्पूर्ण सचराचर में आप ही जगत् जननी के रूप में पूजित हैं। हे सहस्त्र-सहस्त्र जिव्हयाओं वाली अग्नि! अपनी सहस्त्र भुजाओं द्वारा, असंख्य मुखों के सम्पूर्ण सचराचर का भोजन करने वाली, हे महा ज्वाला! हमारे यज्ञ में आवाहन है आपका।

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्णया वनतं गिरः ॥१.३.२.

हे असंख्य शूलों को धारण करने वाली; करती हो सचराचर का उद्धार! वेदी बना करते आवाहन तुम्हारा! तुमसे करते गुहार!

(अश्विना) हे ब्रम्ह ज्वाला! देवकी! (पुरूदंससा) अर्थात असंख्य सूर्यों को धारण करने वाली अर्थात कौशल्या (पुरूदसंसा अर्थात असंख्य शूलों को धारण करने वाली तथा "कौ" अर्थात असंख्य "शल्या" शूलों वाली अर्थात 'कौशल्या' श्री राम की जननी) (नरा) ब्रम्हाणी (शबीरया धिया) सम्पूर्ण सचराचर को अर्थात जड़ चेतन को धारण करने वाली! हे महा दुर्गा! (धिष्णया) यज्ञ की वेदी बना कर, उसमें हे मां! हम तुम्हारी प्रतिष्ठा करते हैं। [वनतं] तुम से विनती करते हैं! तुम्हारा अवाहन करते हैं। [गिरः] हे सरस्वती!

हे ब्रम्ह ज्वाला! हे आत्माग्नि! हे देवकी! सहस्त्र सूर्यों को धारण करने वाली कौशल्या! सम्पूर्ण जड़ चेतन सचराचर को धारण करने वाली हे महा दुर्गा! हे महा शक्ति! तुमसे विनती कर रहे हैं। तुम्हारी स्तुति और वन्दन कर रहे हैं। इस यज्ञ की वेदो में हे ज्योतिर्मयी। अपने असंख्य मुखों जिव्हाओं और भुजाओं के साथ प्रकट हो जाओ। हम स्वयं को, स्वयं में, यज्ञ कर, तुम्हारे ज्योतिर्मय गर्भ से नूतन स्वरूप

धारण कर जन्मना चाहते हैं। पुनः यज्ञ होना चाहते हैं। आप ही सम्पूर्ण सचराचर में, सम्पूर्ण यज्ञों में अग्नि स्वरूप प्रतिष्ठित हैं ! निरन्तर यज्ञों का उद्धार करती हैं !

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातं रुद्रवर्त्तनी॥१.३.३.

यज्ञों द्वारा पवित्र अमर यौवन देती तुम ! हे सहस्त्राग्नि ! महा प्रलय बन प्रगट हो !

(दस्त्रा) हे असंख्य सूर्यों को धारण करने वाली (युवाकवः सुता) उत्कर्ष यौवन को उत्पन्न करने वाली (नासत्या) अर्थात जो कभी नष्ट न हो, ऐसे अमर यौवन को प्रदान करने वाली (वृक्तबर्हिषः) यज्ञों के द्वारा पवित्र, उत्कर्ष एवं अमर यौवन को प्रकट करने वाली (आयातं रूद्रवर्त्तनी) हे प्रलय पथ गामिनी ! हे महा शिवा ! हम प्रलय हेतु आवाहन करते हैं तुम्हारा।

हे सहस्त्र सूर्यों को धारण करने वाली ! हे यज्ञ की ज्वाला! हे महा प्रलय! अजर-अमर नित्य यौवन को यज्ञों से पवित्र कर प्रदान करने वाली ! हे प्रलय की ज्वाला ! हे महा शिवा ! इस यज्ञ की वेदी में आवाहन है तुम्हारा ! मां ! हमारे इस यज्ञ की वेदी में शुभत्व के लिए, हमारे कल्याण के हेतु, प्रलय के गर्भ में हमें धारण कर, अजर-अमर यौवन प्रदान कर, पुनः उत्पन्न करने हेतु, हे माँ ! हम सब आवाहन करते हैं तुम्हारा।

राम और कृष्ण को भी अर्थात परमेश्वर को भी जब लीला अवतार हेतु नर रूप धारण करना पड़ता है, तो परमेश्वर भी, तुम्हारा ही आवाहन करते हैं। तुम कौशल्या (पुरूदंससा) बन उन्हें राम के रूप में प्रकट करती हो। हे माँ ! तुम ही बन देवकी (अश्विना) उन्हें कृष्ण के रूप में प्रगट करती हो। इस जगत लीला में हे माँ ! तुम परमेश्वर की माँ बनती हो। तुम्हारे बिना वे भी नर तन नहीं पाते। तुमही सम्पूर्ण सचराचर की जननी हो। तुम्हारे ही गर्भ से सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है। तुम्हारे बिना हमारा कभी उद्धार सम्भव नहीं है। हे महा शिवा! हमारे इस यज्ञ में रूद्रवर्तनी महाप्रलय बन, प्रकट हो जाओ। अपने ज्योतिर्मय गर्भ में हमें सामग्रीवत् ग्रहण करो। हमारा उद्धार करो ! हमें जलाओ ! भस्म करो ! अपने गर्भ से हमें पुनः नूतन रूप प्रदान करो।

इन्द्रायांहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वींभिस्तनां पूतासंः॥ १.३.४.

आवाहन किया तुम्हारा, सूर्य की पुत्री धरा ने ! प्रज्वलित हुई तुम धरा पर, छितराये पानी से भीगे अन्न के बीजों में ! हमारा अणु-अणु पवित्र हो उठा ! भस्मी से अन्न का रूप पाया हमने !

(इन्द्रा) हे महान ब्रम्ह ज्वाला ! हे यज्ञाग्नि ! हे जगत जननी (चित्रभानो सुता) सूर्य की पुत्री धरा ने जब (आयाहि) आवाहन किया तुम्हारा। हे यज्ञ की ज्वाला ! धरती की पुकार पर जब तुम प्रगट हुई धरा पर। मेरे ही तन का छितराया हुआ अणु-अणु तुम्हारे यज्ञ की रश्मियों से ज्योतिर्मय हो उठे। अणु-अणु पवित्र हो उठा। (अण्वीभिस्तना पूतासः) मेरे ही तन के कण, चिता की राह पर जो भस्मियां बन कर छितरा गये थे, एक बार फिर पवित्र अन्न बन कर लौट आये। (इमे त्वामवः)

हे माँ ! हे यज्ञ की ज्वाला ! मेरे इस यज्ञ में तुम्हारा आवाहन है। मेरे यज्ञ के आचार्य स्वयं आत्मा है। प्राण वायु आचार्य बने हैं। क्योंकि इससे पूर्व भी आप ही की ज्वाला से मेरा उद्धार हुआ है इसलिए मेरे दर्शयज्ञ की ज्वाला आप ही हैं।

आवाहन किया था तुम्हारा, सूर्य की पुत्री धरा ने। मेरे लिए धरती ने पुकारा था, तुम्हें। बन के यज्ञ की ज्वाला, हे माँ ! हे पवित्र अग्नि ! गीली मिट्टी में पड़े पानी से भीगे हुए बीजों के मध्य में, हे अमर ज्वाला ! तुम प्रगट हो गई। पानी में आग लगी। भीगे हुए, गीले और पानी से फूले हुए बीजो के मध्य जब यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित हुई, धरती का कण-कण यज्ञ की रश्मियों द्वारा पवित्र होने लगा। भस्मी के कणों में छितराये मेरे शरीर के अंग प्रत्यंग, यज्ञ की रश्मियों से पवित्र होने लगे। तुमने उन भस्मी के कणो को अंगीकार किया, यज्ञ की रश्मियों से उन कणों का संहार कर अपने ही गर्भ से पुनः उन्हें नूतन स्वरूप प्रदान किया। फल और अन्न में मेरे ही अंगों, को लौटा दिया। मेरा अतिशय कल्याण हुआ। दुर्गन्ध, सुगन्ध बनी। कुरूपता ने सौन्दर्य पाया। मेरे ही अंग प्रत्यंग तुम्हारे स्पर्श से पवित्र हो अन्न और फल बने, शाखों पर लहलहा उठे। मैं लौट आया। हे माँ ! हे यज्ञ की ज्वाला! तुम्हीं ने यज्ञ के द्वारा मुझे सुगन्धित वनस्पतियों में पवित्रता प्रदान की। यथा :-

इन्द्रायांहि धियेषितो विप्रंजूतः सुतावंतः। उप ब्रह्मांणि वाघतः ॥१.३.५.

बुद्धिमान दम्पति ने किया आवाहन तुम्हारा, हमें भोजन के रूप में ग्रहण किया तुम्हारी ही ज्वालाओं से उत्पन्न हमारे अंग, पुनः तुममें प्रलय को प्राप्त हुए !

[इन्द्रियायाहि] हे महा ज्वाला ! आवाहन हुआ तुम्हारा [विप्रजूतः] बुद्धिमान दम्पति के द्वारा [धियेषितो] धारण करने की इच्छाओं से प्रेरित होकर [सुतावत] पुत्रवत् [उप] व्याप्त हो गया तुममें पुनः [ब्रम्हाणि] हे ब्रम्ह ज्वाला ! हे यज्ञाग्नि ! [वाघतः] महा प्रलय हेतु ।

यज्ञों के द्वारा मुझे भस्मी से सुगन्धित वनस्पतियों में लाने वाली, हे यज्ञ की ज्वाला । अन्न के रूप में लौटे हुए मेरे ही अंगों को, एक बुद्धिमान दम्पति ने भोजन हेतु ग्रहण किया तथा संतति हेतु तुम्हारा आवाहन किया । मेरे ही अंग जो भस्मी से भोजन बन गये थे, एक बार फिर प्रलय हेतु, तेरे ही ज्वालाओं के गर्भ में व्याप्त हो गये ।

मां ! तूने यज्ञ किया मेरा । भस्मी से वनस्पतियों में उद्धार किया । एक दम्पति के दाम्पत्य को वरद करने के लिए तूने अपने ही द्वारा उत्पन्न अन्न को पुनः महा प्रलय हेतु अपने गर्भ में ग्रहण किया । तुम्हीं से अन्न का रूप पाया मैंने, तुम्हीं में महा प्रलय हेतु मैं पुनः समाया । यदि जलूँगा नहीं तो मेरा उद्धार ही नहीं होगा । तुम जलाओगी । तभी मेरा उद्धार होगा । बुद्धिमान दम्पति, संतति के वरद करने हेतु, हे मां ! तुम्हारा आवाहन करते हैं । जैसे यजमान भोजन सामग्री को यज्ञ के हेतु, यज्ञ की ज्वाला को अर्पित करता है । उसी प्रकार भोजन को ग्रहण करते हुए, विचारवान दम्पति इस भोजन को अपनी प्रज्वलित ब्रम्ह ज्वाला को ही समर्पित करते हैं । वह भोजन जो तुम्हारे ही गर्भ से प्रकट होता है । पुनः महा प्रलय हेतु तुम्ही में समा जाता है । इसी प्रकार हमारे शरीर जो भस्मी से अन्न का स्वरूप पाते हैं, वे पुनरूद्धार हेतु तुममें व्याप्त हो, पुनः महा प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं । फिर :—

इन्द्रायांहि तूतुंजान उप ब्रह्मांणि हरिवः। सुते दंधिष्व नश्चनंः ॥१.३.६.

तुम्हारी ज्वालाओं में व्याप्त हो, पुनः तुम्हारे गर्भ में अन्न स्वरूप अंग हमारे ! पाकर नवजात शिशु का रूप, गर्भ के क्षीर सागर से प्रकट हो गये !

(इन्द्रायाहि) हे ब्रह्म ज्वाला ! आवाहन हुआ, तुम्हारा (तूतुजान) महा प्रलय हेतु, बिन्दु-बिन्दु में विसर्जित होने के लिए तथा ज्योतिस्वरूप को प्राप्त होना (उप) व्याप्त हो (ब्रम्हाणि) ब्रम्ह ज्वालाओं में (हरिवः) उत्पत्ति हेतु (सुते) उत्पन्न होकर (दधिष्वः) गर्भ रूपी क्षीर सागर से (न) हम (चनः) अन्नादिक।

यज्ञ की ज्वालाओं में महा प्रलय हुई हमारी। आत्मज्वाला रूपी गर्भ में अन्न स्वरूप हमारे शरीर, यज्ञ होकर पुनः सृजन के द्वारा पिंडात्मक स्वरूप ग्रहण करते, समय के साथ, नवजात शिशु का रूप पाते हैं। अन्न स्वरूप का परित्याग करते, नवजात शरीर, गर्भ रूपी क्षीरसागर से संतति के रूप में प्रगट हो जाते हैं। हे मां! हे यज्ञ की ज्वाला ! एक बार प्रलय और सृजन की लीला द्वारा तुमने हम पर अतिशय कृपा की। हमें नवजात शिशु का दुर्लभ स्वरूप प्रदान किया। नवजात शिशु बन गर्भ के क्षीरसागर से हम बाहर चल दिये। मां! आप की ही परम कृपा से जड़त्व ने जीवन पाया। हम जीवन्त शिशु बने। आपके अतिरिक्त सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड में ऐसा कल्याणकारी कोई दूसरा नहीं हो सकता है। आप सचराचर जननी हैं। आप बारम्बार हमें जड़त्व से चैतन्य जीवन में लौटाती है। हे मां ! हमारे इस दर्श–यज्ञ में आप यज्ञ की ज्वाला बनकर प्रकट हो। क्योंकि :–

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॒ देवा॑स॒ आ ग॑त। दा॒श्वांसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम्॥ १.३.७.

जीवन व्यापार को गतिमान करने हेतु नवजात शिशु के शरीर में प्रकट हो गया अमर आत्मा ! तुम्हारी ज्वालाओं में करने लगा यज्ञ ! श्वासों का संसार गतिमान हुआ !

(ओमाश्चर्षणीधृतो) जीवन को गतिमान करने के लिए, श्वासों को धारण कराने हेतु अमर आत्मा नवजात शिशु की देह में, यज्ञ की ज्वाला के साथ प्रकट हुए। शिशु को श्वासें प्रदान की। यज्ञ से उभरती हुई श्वासों को जब शिशु धारण कर पाया उसका जीवन गतिमान हुआ। हे मां ! हे यज्ञ की ज्वाला ! नवजात शिशु देह में भी तुम्हारी कृपा और अनुकम्पा के बिना हमारा जीवन सम्भव नहीं था। श्वासों और जीवन को गतिमान करने के लिए, हमारे निरन्तर उद्धार के लिए (विश्वे देवास) अमर आत्मा, यज्ञ के आचार्य होकर हमारी देह में प्रकट हुआ, हे मां! आपका आवाहन किया। हे महाग्नि ! आपने नवजात शिशु को श्वासें प्रदान की !

नवजात शिशु पहली बार श्वास ले पाया। जीवन का अगला क्षण गतिमान हो गया। हे यज्ञ की ज्वाला ! मैं श्वास-श्वास का ऋणी हूँ आपका। आप ही के द्वारा मुझे प्रथम श्वास प्राप्त हुई। आप की कृपा के बिना यज्ञ के आचार्य भी तो नवजात शिशु को श्वास प्रदान नही कर सकते। हे मां ! देह है आपकी। आपकी क्षण-क्षण कृपा से ही मेरा क्षण-क्षण बढ़ता जीवन है।

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ सु॒तमाग॑न्त॒ तूर्ण॑यः। उ॒स्रा इ॑व॒ स्वस॑राणि॥ १.३.८.

अमर आत्मा ने शीघ्रता से आवाहन किया तुम्हारा ! नवजात शिशु के शरीर के पुर और ब्रम्हाण्ड आलोकित हुये ! पक्षियों के प्रातः कलरव सा वह रोया!

(विश्वे देवास) अजर-अमर आत्मा से (अप्तुरः) शीघ्रतापूर्वक (सुतमांगत) बालक ही की देह में प्रवेश कर (तूर्णयः) यज्ञ के द्वारा आवाहन किया ! ब्रम्ह ज्वालाओं को यज्ञ में प्रतिष्ठित कर, यज्ञ का आरम्भ किया। (उस्राइव) सहस्त्र ज्वाला बन यज्ञ की रश्मियां प्रकट हुई। यज्ञ प्रज्वलित हो उठा ! देह में प्रकाश और कोलाहल का शुभारम्भ हुआ (स्वसराणि) हे माँ ! हे यज्ञ की ज्वाला ! अमर आत्मा ने यज्ञ का आचार्य बन, तुम्हारा आवाहन किया। तुम्हें नवजात देह में प्रतिष्ठित किया। हे सहस्त्र ज्वाला ! तुमने प्रगट होकर उन अंधेरी देहों को प्रकाशित किया, जीवन्त किया तथा वाणी से संयुक्त किया।

हे मां ! इस नवजात शिशु के रूप में आप ही ने मेरा अतिशय कल्याण किया था। आप ही के द्वारा मुझे श्वासें प्रदान हुई। नवजात शिशु की देह में जब आप प्रकट हुई तो उसकी देह के पुर ब्रम्हाण्ड उसी प्रकार आलोकित हो उठे, जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होते ही चहुं ओर प्रकाश फैल जाता है तथा पक्षी कलरव करने लगते हैं, उसी प्रकार हे महाग्नि ! जब आप मेरी देह में प्रगट हुयी, आपके पावन स्पर्श से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। भीतर के अंधेरे आपके प्रकाश से लुप्त हुए, मैं भीतर बाहर जगमग हो उठा। प्रातःकाल की बेला में पक्षियों के कलरव की भांति ही, हे मां ! मैं रोया। आप की ही परम कृपा से उस नवजात शिशु का प्रथम रूदन परिवार जनों के सुख के लिए प्रकट हुआ।

विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः। मेधं जुषन्त वह्नयः॥१.३.९.

तुम्हारी ही ज्वालाओं में, यज्ञों द्वारा पुष्ट होते चले नवजात शिशु ! न खंडित कर पाई ससांर की माया उन्हें! वे वज्र से पुष्ट हुये ! तुम्हारी ज्वालाओं से उन्हे मिलो मेधा शक्ति ! उत्थान !!

(विश्वे देवासो) अजर-अमर आत्मा ने तुम्हीं में यज्ञ करके इस नवजात शिशु को (अस्रिध) रक्त-मांस और मज्जा से पुष्ट किया । तुम्हीं यज्ञ की ज्वाला बन बालक की देह में माता के दूध को रक्त मांस आदि में परिणित कर, नवजात शिशु की देह को (अद्रहः) अजेय बनाने लगी । जिससे (ऐहिमायासो) भौतिक मायायें नवजात शिशु के शरीर को भेद न सकें । (वन्हयः) हे यज्ञ की ज्वाला! हे ब्रम्हाग्नि! तुमने ही यज्ञ कर आत्मा में उस नवजात शिशु को (मेधं) बुद्धि से संयुक्त किया (जुषन्त) जिससे वह वेद के ज्ञान को प्राप्त हो, स्वयं को पहचाने तथा अमर राह का पथिक बने ।

भौतिक मायायें इस नवजात शिशु की देह को नष्ट न कर पायें । उसकी देह भौतिक मायाओं से अभेद रहे । नवजात शिशु की देह को मृत्यु का भय न हो। उस देह की रक्षा के लिए आत्मा, ब्रम्ह ज्वाला में ही यज्ञ कर, माता के दूध और जल को, यज्ञ करता हुआ नवजात देह को पुष्ट तथा सशक्त बनाने लगा । हे मां ! यज्ञाग्नि । उन अबोध शैशव क्षणों में तुम्हीं तो उस बालक की वृद्धि, पुष्ठता तथा रक्षा करती हो । आप न होती, तो उस कोमल नवजात शरीर का पात हो जाता । आपसे ही वरद होकर, नवजात शिशु को बुद्धि मिली, जिससे वह वेदों के अमर ज्ञान से संयुक्त हो सके । जीवन के क्षणों के सूक्ष्म ज्ञान को प्राप्त कर, सत्य ज्ञान का अनुसरण करता हुआ, अमरत्व को प्रात्त कर सके । हे यज्ञ की ज्वाला ! आप ही के द्वारा हम सब का प्रतिक्षण कल्याण होता है ।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥१.३.१०.

हे महा सरस्वती ! तुम बनती हमारे शरीरों की ब्रम्ह ज्वाला ! यज्ञों द्वारा पुष्ठ एवं उन्नत जीवन प्रदान करती हमें ! अब यज्ञ करो ऐसा, हम अग्नियों के धारक बने !

(सरस्वती) हे माँ ! सरस्वती ! गूढ़ ज्ञान को सरस और सरलतम बनाने वाली ! यज्ञ–मात्र में रमने वाली ! हे ब्रम्ह–ज्वाला ! (न) हमारी (पावका) ब्रम्ह ज्वाला होकर, यज्ञ की अग्नि होकर (वाजोभि) यज्ञों के द्वारा (वाजिनीवती) बाजीकरण करने वाली अर्थात पुष्ट करने वाली [यज्ञं] यज्ञ करों [वष्ठु] परावर्तन (२१०पुर) का (धियाबसु:) अग्नियों को धारण करने वाला बनाओ।

हे माँ ! हे यज्ञ को ज्वाला ! आप ही यज्ञ की अग्नि बन कर इन नव-जात देहों को, पुष्ट शरीरों में बाजीकरण करने वाली हो।

मिट्टी का ढेला था ! इस मिट्टी के ढेले को आप ने जब यज्ञ किया, यज्ञ की ज्वाला में उसका बाजीकरण किया, तो वह मिट्टी से अन्न तथा अन्न से पुष्ठ देह वाला शरीर बन बैठा। मिट्टी का ढेला जब पानी में गिरता था तो घुल जाता था। उसका स्वरूप मिट जाता था। उसी मिट्टी के ढेले का जब आप के द्वारा बाजीकरण हुआ, वह पुष्ठ देह वाला एक मनुष्य बन गया। जल में किल्लोलें करता है। परन्तु घुलता नहीं, आनन्दित होता है। कल का मिट्टी का ढेला, जो घुल जाता था पानी में, आज वही यज्ञों में बाजीकरण के द्वारा पुष्ट बन बैठा। जल में आनन्द किल्लोल करता है। अब नहीं घुलता है।

मिट्टी के ढेले को पुष्ट देह प्रदान करने वाली, हे यज्ञ की ज्वाला ! हे महाप्रलय ! आज एक परावर्तन का यज्ञ करो। हमारी इन पुष्ट देहों को यज्ञ के द्वारा एक बार फिर पुन: उत्पन्न करो। यज्ञ हो हमारा। तुम्हारी ज्वाला के गर्भ में, यज्ञ के हेतु, खो जायें, शरीर हमारे। हम क्षण-क्षण जलें और तपें तुम्हारी यज्ञ की ज्वालाओं में। जलाकर इन मानव देहों को तुम्हारी ज्वाला के गर्भ से पुन: बाजीकरण के द्वारा हम नयी पुष्ठ देहों को लेकर प्रगट हों। ज्योतिर्मय रूप को लेकर हमारा जन्म हो। हम उन देहों में अग्नियों को धारण करने वाले बने। जैसे आज जल में किल्लोल करते हैं निर्भय होकर। कल हमारा अग्नियों में नृत्य हो। महा प्रलय की ज्वालाओं में हम नृत्य करें। जिस प्रकार जल से इस शरीर को तुमने अभय प्रदान किया है, उसी प्रकार इस शरीर को एक नया रूप प्रदान करो। जो जल की भांति ही, लपटों में किल्लोल करें। अग्नियों को धारण करने वाला हो। जिसे अग्नियां भी नष्ट न कर सकें।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥ १.३.११.

मगंल यज्ञों द्वारा प्रदान करती ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म ! प्रकट होता तुमसे त्रिगुणात्मक संसार ! सबका करती उद्धार! हमें यज्ञ का ज्ञान दो सरस्वती!

(चोदयित्री) तीनों लोकों को तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को प्रकाशित करने वाली (सूनृतानां) यज्ञों के द्वारा निरन्तर जीवन्त उत्पत्ति को प्रदान करने वाली (चेतन्ती) सम्पूर्ण ब्रम्हाण्डों को चैतन्य करने वाली (सुमतीनाम्) सुमति प्रदान करने वाली (सरस्वती) हे माँ ! हे सरस्वती (यज्ञं दधे) हम दर्श–यज्ञ का ज्ञान धारण करें। यज्ञ के रहस्यों से संयुक्त करो। जिन यज्ञों के द्वारा सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है, जिन यज्ञों को कृपा से जीव का निरन्तर उद्धार होता है। यज्ञ के सत्य ज्ञान हमें से वरद करो।

हे माँ सरस्वतो ! रस की भांति सम्पूर्ण सचराचर में रमने वाली ! हे यज्ञ की ज्वाला ! हे माँ ! आप ही सम्पूर्ण ब्रम्हाण्डों और लोगों को आलोकित करने वाली हैं। आप ही की कृपा से जीव, चैतन्यता और सुमति को प्राप्त होते हैं। आप ही की दया से प्राणी यथा संतति से वरद होते हैं। आप ही की दया और कृपा से जीव उपलब्धि, ऐश्वर्य तथा मंगल को प्राप्त होते हैं।

हे माँ ! हे यज्ञ की ज्वाला ! हम आपसे न तो भौतिक मंगल चाहते हैं और न ऐश्वर्य, ज्ञान तथा विज्ञान की कामना करते हैं। हे मां ! हम अपना सब कुछ आपको न्योछावर करना चाहते हैं। क्योंकि ये सब आप ही का दिया है। आप का ही है। मां ! हम आप से एक ही कृपा चाहते हैं। हमें मंगल और उपलब्धि के रूप में, सुमति के रूप में, और चैतन्यता के रूप में, हमें मात्र यज्ञ का ज्ञान प्रदान करें। एक ऐसे ज्ञान को, हम आपके पुत्र प्राप्त हों, जिसके द्वारा हे माँ ! आप सम्पूर्ण सचराचर का उद्धार करती हैं। यज्ञ के उस परम ज्ञान को हमें, प्रदान करें। यज्ञ के सूक्ष्म रहस्यों को हम पर प्रकट करें माँ ! अपने पुत्र को ज्योर्तिमय यज्ञ के ज्ञान से परिपूर्ण करें। हमें यज्ञ के ज्ञान को धारण कराने की कृपा के साथ, यज्ञ को धारण करने वाला बनायें। हे यज्ञों को धारण करने वाली ! हे जगत् जननी ! हे जगदम्बा ! हे भवानी ! हम सब पुत्र हैं आपके। अपनी महाक्षमताओं को हम बच्चों पर न्योछावर करें। यज्ञ को धारण करने की सामर्थ्य प्रदान करें।

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥१.३.१२.

हे अन्तरिक्ष की अनन्त दीप्ति ! प्रतिष्ठित करती गगन में ग्रहों और नक्षत्रों को ! हमें धारण कराओ ज्योतिर्मय स्वरूप और गगन में प्रतिष्ठा !

(महो अर्णः) हे अन्तरिक्ष के यज्ञदीप्ति ! (प्रचेतयति केतुना) ग्रहों और नक्षत्रों को अपने गर्भ से प्रकट कर गगन मंडल में प्रतिष्ठित कराने वाली तथा ज्योतिर्मय बनाने वाली (धियो) हमको भी धारण कराओ (विश्वा) अजर-अमर कभी न मिटने वाली (विराजति) विशिष्ट ज्योतियां, ज्योतिर्मय अनन्त स्वरूप।

अन्तरिक्ष के यज्ञदीप्ति ! हे यज्ञ की ज्वाला ! आप ही सम्पूर्ण ग्रहों और नक्षत्रों को प्रगट करने वाली हो। आप ही सम्पूर्ण ग्रहों और नक्षत्रों को ज्योतियां प्रदान कर, गगन में प्रतिष्ठित करने वाली हैं। आप ही के द्वारा ये सम्पूर्ण ज्योतिर्मय अन्तरिक्ष प्रकट होते हैं। हे मां! हे यज्ञ की ज्वाला ! अन्तरिक्ष के ग्रहों और नक्षत्रों की भांति हमें भी पुनः अपने गर्भ में ग्रहण कर ज्योतिर्मय बनाकर ग्रहण करें। जिससे हम भी ज्योतिर्मय, अग्निजयी, स्वरूप को प्राप्त हों। सीमाओं को तोड़ते हुए, अंतरिक्ष जगत में, ग्रहों और नक्षत्रों की भांति प्रवेश पायें। बनके ज्योतिर्मय रूद्र, हम अग्नि बन, ज्वाला के रुप में, अन्तरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक, मस्त झूमते हुए, ताण्डव नृत्य करें।

सूक्त समापन हुआ।

प्रथम मण्डल, चतुर्थ सूक्त

सुरूपकृत्नुमूतयें सुदुघामिव गोदुहें। जुहूमसि द्यविंद्यवि ॥ १.४.१.

सगुण सचराचर के चित्रित करने वाले, स्वनिर्मित कृति में स्वयं बन्ध जाने वाले, दुधारी गौवों का दोहन करने वाले ! घट-घट क्षण-क्षण यज्ञमयी छवि का दरस तुम्हारा !

(सुरूप) सगुण साकार रूपी सचराचर को (कृत्नु) चित्रित करने वाले कलाकार (मूतये) अपनी ही बनायी हुई कलाकृतियों में बंधने वाले (सु) दिव्य अलौकिक (दुधाम) दुधारू गौवों की (इव) भांति सम्पूर्ण सचराचर का गोदोहन करने वाले (गोदुहे) ग्वाले ! (जुहूमसि) स्रुवा लिये हाथ में ज्योतिर्मयी छवि को (द्यवि-द्यवि) घट-घट, क्षण-क्षण दर्शन करने लगा हूँ। हे सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करने वाले कलाकार ! हे आत्मा रूपी ग्वाले ! आत्मा होकर प्रत्येक शरीर में आत्म ज्वालाओं में यज्ञ करती, तुम्हारी उस सुन्दर मोहक छवि का हम घट-घट, क्षण-क्षण चिन्तन करने लगे हैं। कैसी अद्भुत लीला हैं तुम्हारी ! एक अद्भुत चित्रकार की भांति सम्पूर्ण सचराचर को चित्रित करते हो, जीवन्त करते हो और स्वयं ही आत्मा होकर अपने बनाये चित्र में स्वयं बंध जाते हो। आत्मस्वरूप होकर हे परमेश्वर ! मैं तुम्हें हर रूप में देखने लगा हूँ। बनाते हो चित्र और बंध जाते हो उस चित्र में स्वयं। तुम्हारी बाल लीला में भी मैं तुम्हें इसी प्रकार ऊखल से बंधे देखता हूँ।

यशोदा जी अपने आंगन में दधि मंथन कर रही हैं। विशाल खुला हुआ आंगन है। सामने का सिंह द्वार सपाट खुला है। द्वार के सामने मैदान में नन्हें ग्वाल-बाल खेल रहे हैं। आनन्द का क्षण है। हर ओर एक सुखद आलौकिक छटा शोभाय मान हो रही है। बस उदास हैं तो नन्हें कन्हैया। क्यों मां यशोदा उन्हें बाहर खेलने जाने नहीं देती हैं। यशोदा नन्हें कन्हैया को जबरन अपने पास बिठाये हैं। ढेरों खिलौने कन्हैया के सामने बिखेर दिये हैं। मां कन्हैया से कहती हैं कि वह उनके सामने वहीं पर खेले। बाहर न जाएं ! क्यों ? पापी कंस जो पीछे पड़ा है। पूतना, तृणावर्त आदि नाना असुर मारे जा चुके हैं। डरती हैं। नन्हें कन्हैया को भयवश बाहर नहीं जाने देती हैं। कन्हैया को अपने ही पास बिठाये यशोदा जी दीवार के पास दही बिलो रही हैं। उनके समीप ही एक लकड़ी का ऊखल रखा हुआ है।

नन्हें कन्हैया का मन बाहर जाने को कर रहा है। बाहर खेल रहे बालकों के साथ वे भी खेलना चाहते हैं। उदास मन से वे द्वार के बाहर खेलते बच्चों को देखते हैं। बाहर खेल रहे बालक भी कन्हैया के बिना उदास हैं। वे बारम्बार उनको चुपके से भाग आने का इशारा करते हैं।

एक तो पहले ही बाहर जाने का मन, ऊपर से बालकों के मिलते इशारे ! नन्हें कन्हैया लोभ का संवरण नहीं कर पाते हैं। चुपके से बिना आहट के धीरे-धीरे बाहर की ओर सरकने लगते हैं। बीच में पलट-पलट कर देख भी लेते हैं माँ की ओर। सरकते हुए कन्हैया लगभग आधा आंगन पार कर जाते हैं। नन्हें गोविन्द अपनी इस युक्ति पर बड़े प्रसन्न हैं। बाहर जाने की जल्दी, भोली उत्सुकता। नन्हें कन्हैया उठकर दौड़ लगा लेते हैं। कमर की घंटियां और पैरों के घुंघरू बज उठते हैं। घुंघरूओं और घंटियों की आवाज से यशोदा जी का ध्यान भंग हो जाता है। पलट कर भागते हुए कन्हैया को देखती हैं। दौड़कर पकड़ लेती हैं उन्हें ! पुनः अपने पास लाकर बिठा लेती हैं। डांटती हैं और समझाती भी हैं।

नन्हें कन्हैया खीझ उठते हैं। दही उठाकर मां के कपड़ों पर फेंकने लगते हैं। माखन लेकर मां के मुंह पर मल देते हैं। यशोदा जी दही और माखन से उनको दूर कर देती हैं। बाल कन्हैया और भी कुपित हो उठते हैं। लकड़ी का हाथी उठाकर उस मटकी को भी फोड़ने चल देते हैं, यशोदा जी जिसमें दही मंथन कर रही हैं। यशोदा जी झपट कर हाथी उनके हाथ से छीन लेती हैं। कन्हैया लकड़ी का घोड़ा उठाकर मटकी को फोड़ने चल देते हैं। यशोदा जी घोड़ा भी कन्हैया के हाथों से छीन लेती हैं। वे चांदी की बांसुरी से मटकी पर प्रहार करने लगते हैं। यशोदा जी भी खीझ उठती हैं। नन्हें कन्हैया को पकड़ कर ऊखल के साथ बाँध देती हैं। खासा बड़ा ऊखल ! उसकी कमर में कन्हैया की कमर को बांध देती हैं। नन्हें कन्हैया हवा में टंगे रह जाते हैं। उनके पांव धरती नही छूते हैं।

यशोदा जी पुनः दही बिलोने लगती हैं। बीच बीच में निगाहें उठाकर कन्हैया को भी देख लेती हैं। एक बार यशोदा जी विचारों में खो जाती हैं। कन्हैया का ध्यान आते ही सिर घुमाकर ऊखल की ओर देखती है। माँ के हाथ से रस्सी छूट जाती है। यशोदा जी भौचक्की रह जातो हैं। क्या देखती हैं कि वहाँ पर न तो

ऊखल है और न ही कन्हैया ? पलटकर द्वार की ओर देखती हैं तो मां के मुख से चीख निकल जाती है। यशोदा जी देखती हैं कि ऊखल ने एक विशाल मनुष्य का रूप धारण कर लिया है। उस ऊखल के हाथ पैर भी निकल आये है। उस ऊखल के बड़ा सा सिर भी प्रकट हो गया है। ऊखल अपने पैरों से चलता हुआ द्वार की ओर जा रहा है। नन्हें कन्हैया उसकी कमर से वैसे ही बंधे है जैसे मां ने बांधा था। कन्हैया आँख मूंदे हवा में पैर हिला रहे हैं। उन्हें मालूम ही नहीं है कि ऊखल उन्हें अपनी कमर से बांधे भगाये लिए जा रहा है।

चीखती हुई यशोदा जी उस ऊखल के पीछे दौड़ती हैं झपटकर रस्सी को खोलती हैं। नन्हें कन्हैया को ऊखल से अलग करती हैं। आंचल से कन्हैया को सीने में भींचकर मां यशोदा धम्म से वहीं बैठ जाती हैं। यशोदा जी फूट–फूट कर रोने लगती हैं। यशोदा जी की चीखों को सुनकर सारे अनुचर और ग्वाल–बाल दौड़े चले आते हैं। यशोदाजी को घेरकर खड़े हो जाते हैं। पूंछते हैं, "माँ ! क्या हुआ?"

"अरे मत पूछो ! जो आज न देख लेती, न छुड़ा पाती, तो गोविन्द कहां पाती ? मैं समझो कि वह लकड़ी का ऊखल है आंगन में खड़ा हुआ। मुझे क्या पता था कि वह कंस का भेजा हुआ कोई मायावी पिशाच है। बाल कन्हैया का अपहरण करने के लिए ही ऊखल बनकर आंगन में खड़ा है। बालक बाहर जाने की हठ कर रहा था। मैं भी कैसी अज्ञानी हूँ कि स्वयं अपने लाल को उस पिशाच की कमर के साथ बांध बैठी। फिर क्या देखती हूँ कि वह पिशाच, विशाल नर रूप धारण कर कन्हैया को कमर से बांधे भगाये लिए जा रहा है ! जो आज न देख पाती ! न पकड़ पाती ! गोविन्द कहां पाती ? फूट–फूट कर रोते हुए यशोदाजी उनको सारी अपनी कहानी सुनाती हैं।

"माँ ! यह आप क्या कह रही हैं ? ऊखल तो आपके बगल में पड़ा है। उसके न हाथ हैं, न पैर हैं और न सिर है। यह तो मात्र लकड़ी का ऊखल है। मां आपको भ्रम तो नहीं हुआ ?" विस्मय से बालक पूछते हैं।

माँ यशोदा ने पलटकर ऊखल की ओर देखा तो स्तब्ध रह गई। माँ देख रही हैं कि वहां पर एक लकड़ी का ऊखल मात्र रखा हुआ है। सिर, हाथ और पैर सब गायब हो चुके हैं। आश्चर्यचकित यशोदा जी लकड़ी के ऊखल को देख रही हैं। माँ को विश्वास नहीं हो रहा है। यशोदाजी कहती हैं–

"बालकों ! यह सचमुच मायावी पिशाच है। मैंने इसके हाथ, पैर देखे हैं मैंने इसका सिर देखा है। मैंने इसे पैरों पर चलते देखा है। अन्यथा तुम्हीं बताओ यह दीवार तक आया कैसे ? नन्हें कन्हैया इसकी कमर से बंधे हुए थे। उनके पैर भी धरती को छू नहीं रहे थे। यदि यह स्वयं नहीं चला तो पन्द्रह कदम दूर तक आया कैसे ? बिश्वास करो यह कोई मायावी पिशाच है। हमारे भय के कारण इसने पुनः ऊखल का रूप धारण कर लिया है। इसे तुम साधारण न समझो।"

भयभीत यशोदाजी उस ऊखल की कथा, बालकों को बता रही हैं, जो उन्होंने थोड़ी देर पहले देखा था। ग्वाल-बाल भी भयभीत हैं। वे पूछते हैं:-

"मां ! इस पापी ऊखल का हम क्या करें ?"

"इसे तुरन्त अभिमंत्रित वस्त्र लाकर लपेट दो। फिर बांसों पर रस्सियों से इसे कसकर बांध दो। जल्दी करो, कहीं कोई दूसरा रूप बदलकर भाग न जाये।"

कुछ बालक ऊखल को घेर कर पहरा देने लगते हैं बाकी शीघ्रता से हल्दी आदि से, अभिमंत्रित वस्त्र से ऊखल को लपटते हैं तथा ऊखल को बांसों के साथ रस्सियों से जकड़ कर बांध देते हैं। वे यशोदाजी से पूछते हैं :-

"माँ ! अब हम इसका क्या करें ?"

"इस पापी को उठाकर ले जाओ ! गाँव के बाहर यमुना के किनारे ! इसे लकड़ियां लगाकर जलाओ ! राख के ढेर में बदल देना इसे।" यशोदाजी आदेश देती हैं।

बालक ऊखल को उठाकर गाँव के बाहर यमुना नदी की ओर जाने लगते हैं। माँ का हृदय; हिल गया तो फिर संदेहों की भरमार ! यशोदाजी दौड़ कर पीछे जाती हैं और उनसे कहती हैं :-

"ठहरो ! ये मायावी पिशाच है। जलने के उपरान्त भी यदि इसकी माया नष्ट न हुई तो भस्मी से कोई दूसरा रूप धारण करके गाँव में प्रवेश कर जायेगा। इसलिए इसकी भस्मी को बटोर लेना। बीच यमुना नदी में उसे समाधिस्थ कर देना। मां यमुना से प्रार्थना करना। यमुना मैया इस पिशाच की माया को सदा के लिए नष्ट कर दो। दुर्वासा ऋषि की कुटिया के समीप ही बीच धारा में,

इस पिशाच की भस्मी को समाधिस्थ करना। ऋषि से भी इस पिशाच की माया को नष्ट करने की प्रार्थना करना। फिर पवित्र होकर गाँव में प्रवेश करना।"

बालक ऊखल को लेकर यमुना के किनारे आते हैं। ऊखल को लकड़ियों पर रखकर जलाकर राख कर देते हैं। ऊखल की राख को दुर्वासा ऋषि की कुटिया के सामने बीच यमुना में ले जाकर समाधिस्थ करते हैं। यमुना से तथा दुर्वासा ऋषि से प्रार्थना करते हैं। पवित्र होकर नये यज्ञोपवीत धारण करके गांव की ओर चल देते हैं। बालक गांव के समीप पहुंचते हैं, तो देखते हैं मां यशोदा गांव के बाहर उनकी प्रतिक्षा कर रही हैं। यशोदाजी के साथ में दो अनुचर हैं एक अनुचर के हाथ में दो बड़े–बड़े थाल हैं। उन थालों में कुछ सामग्री सी रखी हुई है। मां को देखकर बालक ठिठक कर खड़े हो जाते हैं। यशोदाजी उनसे पूछती हैं :–

"बालकों ! तुमने उस पापी ऊखल को जलाया ?"

"हां मां ! हमने उस पापी ऊखल को जलाया है। उसकी भस्मी को बीच यमुना की धारा में समाधिस्थ किया। ऋषि दुर्वासा तथा मां यमुना से, आपके कहे के अनुसार प्रार्थना की। सर्वस्त्र पवित्र होकर, नये यज्ञोपवीत धारण करके हम लोग आ रहे हैं।"

"बच्चों ! मेरे मन में अभी भी संशय है। मायावी पिशाच है। इन्द्रियों की वासना बनकर भी लौट सकता है। मैं अपने साथ अभिमंत्रित नीम की पत्तियां लाई हूँ, तुम सब उन पत्तियों को चबाओ। यदि वह इन्द्रियों की विषय अथवा वासना बनकर आ रहा होगा तो, इन पत्तियों के प्रभाव से नष्ट हो जायेगा।"

सब बालक थाल में से अभिमंत्रित पत्तियां उठाकर चबाते हैं। पुनः यशोदा जी कहती हैं उनसे :–

"वह मायावी असुर है। संभव है परछाई बनकर आ रहा हो। इस लिए तुम सब को अभिमंत्रित मिर्चों का धुँवा दूंगी। यदि वह पिशाच परछांई के साथ आ रहा होगा तो अभिमंत्रित मिर्चो के धुवें से नष्ट हो जावेगा।"

सब बालक अभिमंत्रित मिर्चों का धुंवा लेते हैं। उसके उपरान्त यशोदाजी उन बालकों से कहती हैं कि वे बालक शीघ्रता पूर्वक गाँवों में प्रवेश करें।

वेदव्यास की लीलाओं का अमृत, वेद की ऋचाओं के मधुर रहस्यों का अनावरण करते हैं। बालक और यशोदा जी गांव को बढते हैं। उनके जाते ही मंच पर सूत्रधार के रूप में, स्वयं सम्पूर्ण वेदों के संकलनकर्ता, भगबान श्री वेदव्यास, प्रकट होते, कथा रहस्य का अनावरण करते हैं। मंच से गूंजती हुई वेदव्यास की थिर गम्भीर वाणी–

"क्या जाने वह भोली मां! बेचारा लकड़ी का ऊखल ही था। कंस का भेजा हुआ कोई मायावी पिशाच उसमें नहीं था। हुआ क्या था? बांध दिया था पारस कन्हैया को, जड़ ऊखल के साथ। पाकर, ब्रम्ह श्री गोविन्द का स्पर्श, जड़ता को जीवन मिल गया। छू लिया कन्हैया को तो, वह लकड़ी के ऊखल जीवन्त मनुष्य बन गया। जैसे पारस का स्पर्श पाकर लोहा सोना हो जाता है। ईश्वर का स्पर्श मिला तो पेड़ की लकड़ी ने मनुष्य का रूप पाया। कन्हैया की इच्छा के लिए हो ड्योढ़ी से बाहर चल दिया। नन्हें कन्हैया बाहर जो जाना चाहते थे।

क्या देखता हूँ मैं! मेंरे प्यारे भक्तवृन्द! जब भी मां प्रकृति रूपी यशोदा आत्मा रूपी श्रीकृष्ण को, इस शरीर रूपी ऊखल के साथ बाँध देती हैं! यह भी मनुष्य रूप बन जाता है। चलने-फिरने लगता है। जिन्दगी की न जाने कितनी दहलीज़ें पार करने लगता है। आत्मा से रहित यह शरीर, इन पेड़ों का अन्न, फल और लकड़ी ही तो है? एक ऊखल ही तो है। आत्मा से रहित शरीर, मात्र भस्मी का ढेर है। जब भी पारस कन्हैया का अर्थात आत्मा का स्पर्श पाता है मिट्टी से फल तथा और अन्न से बालक बन जाता हैं। जिस दिन मां प्रकृति रुपी यशोदा, आत्मा रूपी गोपाल को, इस शरीर रूपी ऊखल से अलग कर देती है। उसका अन्त आ जाता है। घर के सारे सदस्य चीख उठते हैं। यह हमारा पिता नहीं हैं, यह हमारा स्वजन नहीं! यह तो कंस का भेजा हुआ कोई मायावी पिशाच है। बांध अभिमंत्रित कपड़े से, बांसों और रस्सियों पर, इसे उठाकर ल चलो गांव के बाहर! चिता सजाकर इसे चिता की आग में जलाकर, राख कर दो।

ले जाते हैं, गाते हुए! राम नाम सत्य है। हरि का नाम सत्य है। सत्य राम और हरि ही हैं। राम अर्थात आत्मा से छूटा शरीर कृष्ण-लीला में लकड़ी का ऊखल मात्र है। न तो यह किसी का और न कोई इसका! लौटकर कड़वा ग्रास

खाते और मिर्चों का धुंवा लेते हैं। क्यों ? इसलिए कि कहीं प्रेत पिशाच बनकर उनके साथ लौट न आवे !

वेद की ऋचाएं हों या गोविन्द की बाल लीला ! कहानी सिर्फ हमारी हैं। चौथे सूक्त की प्रथम ऋचा, हमें भीतर बाहर झकझोर गयी है।

हे सम्पूर्ण सगुण को साकार करने वाले कलाकार ! आत्मा होकर अपनी ही बनायी हुई कृतियों में बंधने वाले ! सम्पूर्ण सचराचर का दोहन करने वाले ! हे दिव्य आत्मा स्वरूप वाले ! तेरी बाँकी मधुर छवि मुझे हर ओर दिखने लगी है। हर देह की आत्मा तुम हो ! स्रुवा लिए हाथ में, आत्मज्वालाओं में क्षण-क्षण यज्ञ करती, तुम्हारी उस ज्योतिर्मय मनोरम छवि का दर्शन, हर क्षण करने लगा हूँ। नजर जब भीतर झुकायी है, अपने अन्तर में भी तेरी मुस्कराती हुई, मनोरम छवि पाई है। हर ओर तु है ! बस तू ही तू है। इसके पहले कि अलगाव के क्षण हों। इससे पहले कि रूठकर चल दे तू मुझसे। सोचता हूँ क्यों न लौटूँ, अपने ही अंतर में, तुझसे लिपट जाऊँ ! तेरा ही हो जाऊँ ! तेरे ही ज्वाला रूपी पीताम्बर को ओढ़ लूं ! मिलन हो हमारा ऐसा कि बिछुड़े न कभी ! आज जब हर ओर तू ही मेरे सामने है। भीतर भी और बाहर भी ! मेरा मन कर रहा है कि तेरी यज्ञ की ज्वालाओं में, मैं सामग्रीवत् क्यों न तिरोहित हो जाऊँ।

हे सचराचर में व्याप्त आत्मा ! हे ज्योतिर्मय कृष्ण ! आपकी सुन्दर मोहक छवि का हम घट-घट क्षण-क्षण चिंतन करने लगे हैं। हर ओर तुम आत्मा होकर, सम्पूर्ण जीवन्त सचराचर का, धारण एवं भरण पोषण कर रहे हो। हे गोविन्द! तुम ही सब में व्याप्त हो ! है जगत आत्मा ! सब में जब देखा तुम्हें तो हमने अपने भीतर भी निगाहें घुमाई हैं। सचराचर में व्याप्त इस सुन्दर मोहक छवि का हमने अपने अन्तर में भी दर्शन पाया है। हमारे अन्तर में आत्मा होकर विराजने वाले ! हे मोहक वासुदेव ! जब विराज रहे हो तुम भीतर हमारे तो क्यों न मिलन का क्षण समीप हो जाये। आज हम वरण करें तुम्हारा ! तुम आत्मा रूपी पति बनो, हम जीव गोपी कहायें ! हे गोविन्द ! हम सब गोपियाँ गोपाल की हो जायें।

उप॑ नः सव॒ना ग॑हि सोम॑स्य सोमपाः पिब | गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ‖ १.४.२.

सवन के ज्योति जल हैं, ज्योति आचमन है, ज्योतिर्मय पति है हमारा ! ज्योतिर्मय सूर्य के चहुँ ओर भ्रमती परिक्रमा करती धरा सी अनुभूतियां हैं हमारी !

[उप] व्याप्त होने हेतु [सवन] विवाह से पूर्व जब वधु, वर के जल से नहलायी जाती है, उस स्नान का नाम सवन है तथा यज्ञ से पूर्व सामग्री को नहलाने की प्रक्रिया का नाम 'सवन है। [आगहि] आ गये हैं। [नः] हम लोग [सोमस्य] ज्योतियों के लिए, ज्योतिर्मय आत्मा में समर्पित होने के लिए, आत्म ज्वालाओं में यज्ञ हो ज्योति बन जाने के लिए [सोमपः=सोम+अपः] ज्योतियों का जल हो [पिब] पी रहे हैं, उस जल को आचमन कर रहे हैं, ज्योति रूपी जल का आचमन (गोदः) ज्योतियों को धारण कराने वाला, ज्योतियों को देने वाला, ज्योति को प्रज्वलित करने वाला, सूर्य (रेवतः) परिक्रमा करते हुए (इत) इस प्रकार (मदः) झूमते हुए, मदमस्त होते हुए, आनन्दित होते हुए।

देखा! तू ही आत्मा होकर बैठा है भीतर हमारे! प्रियतम् रूपी आत्मा विराजमान है! अन्तरजगत ही विवाह की वेदी है। आत्म-ज्वाला रूपी ब्रम्हाग्नियों का यज्ञ प्रज्वलित है। रे जीव! बन जीव रूपी दुलहिन! यज्ञ की वेदी के सम्मुख आ! अपने पति, आत्मा के साथ, ब्रम्ह ज्वालाओं के सामने, भांवरे, विवाह वेदी, यज्ञ की वेदी पर, सदा–सदा के लिए अपने पिया की हो जा! मिलन की अनुपम बेला है। रे जीव! इस शरीर रूपी दुलहिन को सजा। विवाह वेदी से पूर्व का सवन स्नान कर ले! पिया तो ज्योतियों के जल में नहाते हैं। उन्हीं ज्योतियों के जल से अपनी शरीर रूपी दुलहिन को नहला। उन्हीं ज्योतियों के जल का आचमन ले। जिस प्रकार मदमस्त उन्मादनी पृथ्वी, अपने प्रियतम सूर्य के चहुँ ओर भांवरे लेती है। ऐसी ही भाँवरो के लिए ज्योतिर्मय पिया के संग, ब्रम्ह ज्वालाओं के सम्मुख आ। मिलन की बेला है। विवाह वेदी सजी है! ज्योतिर्मय है पिया! ज्योतियों के जल में नहाता है वह। पिया के नहाये जल से तू भी तन रूपी दुलहिन को नहला! पिया के नहाये जल का आचमन लेकर भांवरों हेतु, यज्ञ की वेदी पर आ।

हे गोविन्द! हे आत्मा! आज हम दुलहिन बनी हैं। जिस प्रकार दुलहिन वर के जल से नहलायी जाती है। उसी प्रकार हे नारायण! हे आत्मा! हे ज्योतिर्मय! ज्योतियो में ही स्नान करने वाले! तुम्हारे स्नान किये ज्योति रूपी जल से, हम तन रूपी दुलहिन को स्नान करा रही हैं। मिलन के क्षण हैं! ज्योतियों के जल का आचमन लिया है! जिस प्रकार भांवरों के पूर्व, वर के जल से नहलायी

जाती दुलहिन रोमांचित होती है। आज वही अबस्था है हमारी ! भविष्य की भोली आशंकाओं का एक भोला नन्हा सा भय है ! रोमांच है ! रोम-रोम पुलकित है ! एक डर ! एक लाज और ढेर सा नशा ! अंग–अंग रोमांचित है, हर्षित है ! मदमस्त है ! हम सब तुम्हारी दुलहिन हैं।

अथां ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अतिख्य आगहि॥१.४.३.

विद्या और सुमति के उबटन से हम मंजी हुई ! त्याग कर संसार और ख्याति, उपलब्धि, हैं हम आयीं !

(अथा) आरम्भ हुई थी हमारी कहानी (ते) तुम को पाने के लिए (अन्त-मानां) उबटन क्या था ? उसमें हल्दी क्या थी ? तेल कौन सा था ? तथा अन्न कौन सा था ? (विद्याम्) विद्या का उबटन था (सुमतीनाम) सुमति का तेल था (मा) हटाती रही हम मैल को (न) हम सब (अतिख्य) ख्याति रूपी, मिथ्याभिमान रूपी मैल से दूर होकर आ पाई तुम तक (आगहि) आ गयी।

हे प्राणाधार ! हे ज्योतिर्मय प्रियतम् ! हम पहुँची किस प्रकार तुम तक ! आज विवाह के मंडप तक हम पहुँची कैसे ? सुनो ! हम सुना रही तुमको, कथा तुम्हारे वर के जल से नहाने से पूर्व ! ज्योतिर्मय सवन से पहले ! हम उबटन से मांजती रही, इस देह रूपी दुलहिन को ! उबटन था, विधा और सुमति का ! तपस्या का ! साधना के हांथों से हम सब मांजती रही अपने रोम-रोम को ! विद्या और सुमति के उबटन से ! ख्याति, उपलब्धि और सम्मान के मैल को भी अपने तन से अलग कर, जीवन के प्रत्येक क्षण को विनम्र, निर्मल, अकिंचन तथा अनासक्त बनाती रही हैं। इसीलिए तो हे प्रियतम ! आज तुम्हारे समीप हो पाई हैं। मिलन के अमृत क्षणों का स्पर्श सुख पा रही हैं। लम्बी यात्रा थी हमारी ! कैसे-कैसे मोड़ थे ! कैसे-कैसे घुमाव थे ! कैसे पार किया हमने !

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आवरम्॥१.४.४

दूर हटती रहीं अतीत की स्मृतियों से, इन्द्रियों के विष से ! स्थित हो गयी आत्म ज्वालाओं के सामने ! ओढ़ा दो, ज्वालाओं का पीताम्बर !

(परेहि) दूर करती रही स्वयं को, तन से, मन से, विचारों से ! अलग करती रही स्वयं को (विग्रम) विष से रहित करती रही स्वयं को (रितम्) आत्म (इद्रम्) ज्वाला (स्थः) आत्म ज्वालाओं में स्थिर होती गयी (पृच्छा विपश्चितम्) अतीत की स्मृतियों से हम शेष होती गयीं। (यस्ते) इस प्रकार हे प्रियतम् (सखिभ्य) हे सखा ! हे मित्र! तुम्हारे लिए अर्थात् तुमको पाने के लिए (आवरम्) आ सकी हम, वरण के हेतु !

हम पहुँची कैसे तुम तक ? लम्बी कथा है हमारी ! अतीत की स्मृतियों को झुठलाती रही हैं हम ! विषय वासनाओं के विष से स्वयं को दूर भगाती रही हैं। आत्म ज्वालाओं में स्वयं को स्थिर करती रही हैं हम ! इसीलिए तो हे प्रियतम् ! हे अनन्य सखा ! आज तुम्हारा वरण करने के लिए तुम तक पहुँच पाई हैं।

हमारी अवस्था थी उस दूलहिन की तरह, जो स्वयं को बाबुल के घर से झुठलाती रहती है। मृगछौनों से, बछड़ों से ! खेतों से खलिहानों से ! अपने मन को स्वयं उचटाती रहती है ! बार-बार याद दिलाती रहती है अपने को ही ! कल अंजानी राहों पर चल देगी, संग उसके। बाबुल का घर ! यह मृगछौने ! खेत-खलिहान ! गौवें और यह बछड़ें ! सब छूट जायेंगे। यहाँ के दृश्य छूट जायेंगे ! यहां के आदमी छूट जायेंगे। भोली उमंग और उत्सुकता। भोला सा प्यार ! बस एक अंजानी अनदेखी राह ! गुदगुदाते से, मोहक अजनबी का संग ! चल देगी, देश अनजाने!

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे ज्योतिर्मय ! यों ही हम भी, शरीर रूपी बाबुल के घर से स्वयं को अलग कर देती हैं ! डराती रही हैं स्वयं को ! सम्पूर्ण भौतिकताओं से झुठलाती रही हैं ! सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय रूपी विष से भी हम बचती चली आई हैं। जिस प्रकार गांव की नव-यौवनाएं, खेतों की मेड़ों पर बैठे गुण्डों से अपने को बचाती रहती हैं। हे नारायण ! उसी प्रकार हमने भी इन्द्रिय रूपी विषयों के विष से स्वयं को नकारा है, अलग किया है ! हम नहीं रीझी हैं उन पर। इसीलिए तो हे प्रियतम् ! आज हम सभी प्रकार से तुम्हारे द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं ! हे पीताम्बर धारी ! पीत-जगमग-ज्वालाओं को, वस्त्र के रूप में धारण करने वाले वरण करो हमारा ! पीताम्बर धारण कराओं हमें !

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ १.४.५.

संशय, बनावट, निन्दा नहीं है ! आत्म - स्थित है हमें धारण करो ऐसे, जैसे अग्नि धारण करती समिधा को !

(उत) संशय (ब्रुवन्तु) बनावट, ढोंग (निदो) निन्दा, अज्ञान, दोष देखने और ढूंढ़ने की वृत्ति (निरन्यत) रहित हो गये, छूट गये, दूर हट गयी (चिदारत) आत्म-स्थित हो गये निर्मल मन की हो गयी (च) तथा (दधाना) धारण करो हमें (इत) इस प्रकार (इन्द्र) की ज्वालाओं (दुवः) यज्ञ की समिधाएं, लकड़ियाँ ।

ये यात्रा थी हमारी ! पहुँचो हैं हम तुम तक ! संशय बनावट तथा भेद जगत के असत्य और झूठ को नष्ट करके ! आत्म स्थित हो गयी हैं हम ! जीवन और जगत को हमने बनावट ही माना था । यदि भौतिक जगत को ही सत्य मान लिया होता तो अन्तर्निहित सत्य तक हम पहुँचती कैसे ? तुम तक ! मंजिल पर पहुँचा व्यक्ति ठहर जाता है । हमने जगत के संशय की बनावट को और भेद-भाव को कभी मंजिल नहीं माना है । इसीलिए तो अन्तर्जगत में प्रवेश कर पायीं ! हे ज्योतिर्मय ! तुम तक पहुँच पायीं ! मिटा के संशय, बनावट और भेद-भाव ! होके निर्मल ! हम हो गयी थी तुम्हीं में, एक ही भाव में स्थित ! इसलिए तो पहुँच पायीं तुम तक ! प्रिय ! हे सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करने वाले ! हे कृष्ण ! आज यज्ञ की उन ज्वालाओं के सम्मुख, हमें उसी प्रकार धारण करो ! जिस प्रकार यज्ञ की ज्वाला, समिधाओं (लकड़ियों) को धारण करती है । जिस प्रकार यज्ञ की ज्वाला, को समर्पित हो गयी समिधा, पुनः अलग की जा सकती । जल कर ज्वाला ही हो जाती है । उसी प्रकार हे अनन्त ! हे देव, हम जीव रूपी दुलहिनो को तुम धारण करो । धारण करो ऐसा, कि कभी अलग नहीं किये जा सकें हम ! यज्ञ की ज्वाला में जल गयी समिधाओं की भांति, हे ज्योतिर्मय पति ! हम तुम में समाकर, तुम में योग करके, ज्योति बन जायें ! गोविन्द ! तुम मे एक हो जायें !

मिट गये हैं संशय ! असत्य अज्ञान को भी बहुत दूर कर दिया है हमने । एकी भाव में स्थित हो गये हैं हम ! हे आत्मा ! हे यज्ञ ! सदा-सदा के लिए तुम में ही खो गयी हैं हम ! हमें उसी प्रकार धारण करो, जैसे यज्ञ की ज्वाला, समिधा को अपनी ज्योतियों में ग्रहण कर, ज्योति बना लेती है ।

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥१.४.६.

खिच गई हम ज्योतियों की ओर, नष्ट करके सभी शुत्रु ! ज्वालाओं में जलने के असीम सुख की अधिकारिणी हैं।

(उत) संशय, अज्ञान (अरिर्वोचयु) विषय वासनाओं रूपी शत्रुओं को (दस्म) भस्म करके, नष्ट करके (सुभगाँ) अमर ज्योतियों रूपी यज्ञ अर्थात् आत्मा की ओर (कृष्टयः) आकृष्ट हो गयी हैं, आत्मा के आकर्षण से सम्मोहित हो गयी हैं, निरन्तर आत्मा की ओर झुक गयी हैं (न) हम (स्यामेद्रिस्य शर्मणि) इसलिए हम यज्ञ को ज्वालाओं का स्पर्श सुख तथा यज्ञमय होने के परम आनन्द की अधिकारी हैं।

हे आत्मा ! हे यज्ञ! हे गोविन्द ! आत्म-ज्वाला रूपी यज्ञ के सम्मुख, सम्पूर्ण संसार का परित्याग कर, एकीभाव में तुममें हमारी स्थिति हो चुकी है। मन तथा इन्द्रियां भी अपने भ्रमजाल में हमें भटका नहीं पायी हैं। इन्द्रियों के विषयों के तथा कथित सुखों को हमने कर्म तथा चिन्तन से भी मिटा दिया है। एकाग्र आकर्षण, ज्योतिर्मय सुख और आनन्द, हमें आत्मा की ओर आकृष्ट कर रहा है। निरन्तर आत्मा से अद्वैत होने की इकलौती कामना के साथ, आत्मा ही में निरन्तर सम्मोहित होकर, एक ही भाव में स्थित हो तपस्या की अग्नियों में जली हैं हम सब। हे आत्मा! हे यज्ञ ! हे गोविन्द ! आपके स्पर्श सुख की हम अधिकारिणी हैं ! हमें अपनी पवित्र अग्नियों में यज्ञ करो ! खोकर अपने स्वरूप को, हम आप में खो जाएं। सदा-सदा के लिए आपकी ही हो जायें।

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मंदयत्सखम्॥१.४.७.

कच्चे चावल के आसव को यज्ञ के ऐश्वर्य से युक्त करो ! हे पतितपावन, दीन बन्धु सखा !

(अम) कच्चा (आशुम) चावल (आशवे) आसव (भर) व्याप्त (यज्ञश्रियं) यज्ञ के एश्वर्य (नृमादनम्) नरों को आनन्दित करने वाले, मदमस्त करने वाले (पतयत्) पतित, पतितपावन (मन्देयत्) राजस ज्योतिर्मय (सखम्) सखा, मित्र।

कच्चे चावल का आसव अर्थात् मदिरा, पतित को आनन्दित करती है। तामस व्यक्ति कच्चे चावल को मदिरा बनाकर तथा उसका पान करके आनन्द को प्राप्त करता है। कच्चा चावल आसव बनकर पतित को आनन्दित करता है।

कच्चे चावल को भोजन के रूप में राजस ग्रहण करते हुए सुख शक्ति और आनन्द को प्राप्त होता है। वही कच्चा चावल तो तामस को मदिरा बनाकर सुख देता है। राजस को भोजन के रूप में सुख और आनन्द प्रदान करता है। भोजन उसके शरीर में आसव बन उसे शक्ति तथा आनन्द प्रदान करता है।

वही कच्चा चावल, जब सात्विक यज्ञ की ज्वाला में शाकल्य के रूप में अर्पित होता है, तो वही कच्चा चावल, आहुति बन, ज्योतियों के आसव में प्रकट हो तपस्वी को परमानन्दित करता है।

प्रश्न उठता है कि चावल तामस है, राजस है अथवा सात्विक है ? उत्तर मात्र यही है कि चावल तामस के लिए तामस, राजस के लिए राजस तथा सात्विक के लिए सात्विक हैं। हे आत्मा ! हे यज्ञ ! सत्व, राजस और तामस तीनों को समभाव से आनन्दित करने वाले ! हे पतित पावन ! हे सचराचर के सखा हम पर भी कृपा करो ! हम पर भी दया करो।

कच्चे चावल से बने हमारे इन शरीरों को शाकल्य की भांति अपनी पवित्र रश्मियों में यज्ञ करो ! हे यज्ञ ! चावल से बने इस शरीर को जलाओ और ज्योतियों के आसव में बदल दो ! हे सम्पूर्ण सचराचर के सुख ! हे यज्ञ ! हे आत्मा ! चावल से बने सम्पूर्ण शरीर को यज्ञ के ऐश्वर्य से संयुक्त करो ! शाकल्य की भांति हमें सर्वांग अंगीकार करो ! हमें जलाओ ! हमें यज्ञ करो ! चावल का तन ज्योतियों का आसव बन जाये।

अस्य पीत्वा शंतक्रतो घनो वृत्राणांमभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनंम्॥ १.४.८.

पीकर आसव को हम, बने ज्योतिर्मय वज्र नष्ट करें घने बादलो को ! घटाकाश को महाकाश में निर्मल करते लुप्त हो जाये तुममें !

(अस्य) उस आसव को (पीत्वा) पी करके (शतक्रतो) झूमती हुई मदमस्त, कौंधती बिजलियों की भांति (घनो) घुमड़ते हुए घनेरे (वत्राणामभवः, बादलों को नष्ट करते हुए, छिन्न-भिन्न करते हुए (प्रावो) प्रमुखता से, सम्पूर्णता से, व्यापकता से (वाजेषु) यज्ञों में (वाजिनम्) यज्ञ हो जाये, जल जाये, व्याप्त हो जायें।

हमारे ही तन, यज्ञ हो ज्योतियों का आसव बने। फिर पी जायें हम अपने ही तन के आसव को ! छिन्दमस्ता की भांति, पीकर अपने ही तन का आसव, मदमस्त हो जाएं। फिर हम तड़ित की भांति, कौंधती हुई बिजलियों की भांति; असत्य, अज्ञान तथा मृत्यु के भ्रमात्मक घनेरे बादलों को छिन्न-भिन्न करती हुई, हे आत्मा ! हे यज्ञ ! तुम्हीं में खो जायें ! यज्ञ हो जायें।

शरीर हमारे, चावल को आहुतियों की भाँति, आत्म यज्ञ की ज्वालाओं में आसव बने ! अपने ही शरीरों के ज्योतिमय आसव को पीकर, हम जीव रूपी दुलहिनें, मदमस्त होकर, आत्म–यज्ञ रूपी ज्वालाओं का अन्तिम वरण कर जायें। असत्य, अज्ञान और मृत्यु रूपी अन्धेरों को नष्ट करती हुई, आत्म ज्वालाओं में अन्तिम प्रवेश कर जायं। ज्वालाओं का पीताम्बर वस्त्र ओढ़कर, गोविन्द में सदा सदा के लिए खो जायें। हमारे अस्तित्व नष्ट हो जायें।

"प्रेम गली अति सांकरी,
जा में दो न समायें।"

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये॥ १.४.९.

तब यज्ञ ज्वालाओं से पुनः प्रकट हो ! विष्णु सी सुन्दर, शिव-शक्ति सी अदम्य ओज लिये ! ब्रम्ह ज्वालाओं के सुखद ऐश्वर्य को प्राप्त !

(तं) तब (त्वा) तुम्हारे (वाजेषु) यज्ञों में (वाजिनं) यज्ञ होकर हम प्रकट हों (वाजयामः) महाविष्णु सी ज्योतिर्मय तथा सुन्दर (शतक्रतो) शंकर सी प्रलयंकर (धनानाम्) ऐश्वर्यों से (इन्द्र) महान ज्तोतिमय (सातये) संयुक्त होकर।

समा जाएं जब हम, यज्ञ की ज्वालाओं में तुम्हारी, तो सदा की भांति फिर प्रकट हों ! यज्ञ होकर ! जिस प्रकार हमारे ही शरीर, तुम्हारी ज्वालाओं में यज्ञ होकर भस्मी से वनस्पतियों का स्वरूप पाये, जिस प्रकार अन्न यज्ञ होकर, तुम्हारे हो यज्ञ रूपी गर्भ से, हम पुनः मनुष्य तन पाये, उसी प्रकार हे यज्ञ ! हम सम्पूर्णता से तुममें यज्ञ हो जायं। फिर उभरें तुम्हारी ही यज्ञ की ज्वालाओं से, एक नूतन स्वरूप को लेकर ! विष्णु सी सुन्दर, रूद्र एवं शक्ति सी प्रलयंकर, ब्रह्म ज्वालाओं के ऐश्वर्य के सुख से संयुक्त होकर ! जो जला नहीं, अगला जन्म नहीं

पाया। मिट्टी जली तो फल बने। फल जले तो बालक का रूप पाया। अब मनुष्य तन जले तो अद्वैत स्वरूप प्रकट हो जाये। जीवन धन्य हो जाये। राह मंजिल पाये।

योऽरायोऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥ १.४.१०.

शीघ्रता से जो आत्म ज्वालाओं में अपनी अन्त्येष्ठि कर हुआ पार! उसके गीत गाये यज्ञ की ज्वालाओं ने, दहकते होठों से!

(यो) जो (रायो) शीघ्रता से (अवनिरं) आत्मा रूपी धरती पर (महान्त) महा अन्त्येष्ठि कर गया अपनी (सुपारः) उस पार हुआ जो, ब्रम्ह ज्वालाओं में यज्ञ कर पुनः प्रकट हुआ जो (सुवन्तः) उत्पन्न हो गया, पुनर्जन्म हुआ जिसका (सखा) सचराचर का मित्र, आत्मा (तस्मै) उसके (इन्द्राय) महान गीतों को अग्नियों ने (गायत) गाया।

जो कर गया अन्त्येष्ठि अपनी, आत्मा रूपी अवनी पर। जिसने अपना सर्वस्व सम्पूर्ण न्योछावर कर दिया, अपनी ही अन्तर की ज्वालाओं को! जल गया जो, मिट गया जो! खो दिये अपने अस्तित्व सारे! तिरोहित हो गया जो बनके शाकल्य, बन के यज्ञ सामग्री! आत्म ज्वालाओं में खो गया जो, कुछ भी शेष रहा नहीं जिसका! यज्ञ की ज्वालाओं के गर्भ से फिर वह जन्मा! फिर प्रकट हुआ! विष्णु सा सुन्दर तथा रूद्र सा प्रलयंकर एवं सामर्थ्यवान! सर्वांग ब्रम्ह ज्वाला के आभूषणों से अलंकृत था वह! युगों तक गाती रही यज्ञ की ज्वालाएं उसके गीत! गीत गाये यज्ञ की ज्वालाओं ने! अपने दहकते हुए ओंठों से! वेद की ऋचाओं का वह लोकगीत हो गया।

वेद के प्रथम ऋषि, मधुच्छन्दा, प्रथम मण्डल चतुर्थ सूक्त के रहस्यों का अनावरण हम कर चुके हैं। वेद की अद्भुद रश्मियाँ, ज्ञान के मार्ग से, रोम-रोम को झंकृत कर रही हैं। यज्ञ के रहस्यों के साथ, तन-मन सामग्री बन, यज्ञ के लिए आतुर हो चला है। यज्ञ की ज्वाला ही जीवन का अभीष्ट है। यज्ञ की ज्वाला ही मात्र उपलब्धि है। यज्ञ से ही सम्पूर्ण सचराचर प्रकट हो रहा है, होता रहा है, होता रहेगा। यज्ञ ही राह है, यज्ञ ही लक्ष्य है, यज्ञ ही उपलब्धि है। जीवन के सम्पूर्ण क्षण, यज्ञमय हों, तो जीवन सफल हो।

अथ चतुर्थ सूक्त समाप्त

ऋग्वेद प्रवचन, प्रथम मण्डल

पंचम सूक्त

सम्पूर्ण सचराचर, हममें समाया हुआ है। कितना विलक्षण व्यक्तित्व है हमारा। ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में अपने व्यापक स्वरुप का दर्शन पा रहे हैं हम। अद्भुत ! विस्मयकारी ! उत्कृष्ट !!

आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव है। आत्मा ही यज्ञ का आचार्य है। प्राण वायु यज्ञ का उपाचार्य है। ब्रम्ह ज्वाला यज्ञ की ज्वाला है। सम्पूर्ण शरीर तथा जीवन के प्रत्येक क्षण, सामग्री हैं। यज्ञ के अनुपम रहस्यों को हमने इन ऋचाओं में पाया है। ऋग्वेद, प्रथम चार सूक्तों की ऋचाओं ने हमें, हमारे मधुर सम्बन्ध जो जो सम्पूर्ण सचराचर से हैं, दर्शाये हैं। शरीर ही हमारी सीमा नहीं है। प्रकृति जैसे व्यापक तथा आत्मा की भांति अनन्त हैं हम ! सम्पूर्ण सचराचर से अमिट आत्मीय सम्बन्ध है हमारा।

आ॒त्वेता॒ निषी॑दु॒तेन्द्र॑म॒भि प्रगा॑यत। सखा॑य॒ः स्तोम॑वाहसः॥ १.५.१.

बैठ गया जो शीघ्रता से आकर आत्मा के सम्मुख, यज्ञ होने के लिये, वह मित्र हमारा ! धारक बने यज्ञों का !

(आ) आकर (त्वेता) तुम्हारे पास (निषीदत) बैठ गया (इन्द्रमाभि) ब्रम्ह ज्वाला के सम्मुख (प्रगायत) यज्ञ होने हेतु, यज्ञमय होने हेतु, यज्ञ को जीवन का गीत बनाने हेतु (सखायः) सचराचर का मित्र, आत्मा (स्तोमवाहसः) सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करने वाला।

यजमान कौन है ? जीव ही यजमान है, भीतर भी और बाहर भी। आकर बैठ गया जो सचराचर के स्वामी, घट-घट वासी, अजर-अमर अविनाशी आत्मा के समीप। ब्रह्म ज्वाला के सन्मुख यज्ञ होने के लिए अन्तर्मुखी होकर, जो ब्रह्म ज्वाला के यज्ञ के सामने, आत्मा रूपी आचार्य के पास, यजमान होकर बैठा हुआ है। यज्ञ के होने के लिए, यज्ञ के अमृत को प्राप्त होने के लिए। बैठा है सामने वह, सम्पूर्ण सचराचर

के यज्ञों को धारण करने वाले, जीव मात्र के सखा, आत्मा अनन्त के सम्मुख। यज्ञ करेगा वह, यज्ञ होगा वह, यज्ञ से ज्योतिर्मय स्वरूप धारण कर, अजर-अमर अवस्था को प्राप्त होगा वह।

बैठा हूँ भीतर अपने ही, अपनी ही ब्रम्ह ज्वालाओं के सामने ! सम्मुख हूँ अपने अतिशय प्रिय सखा के ! अपने आराध्य, आत्मा गोविन्द के साथ। यज्ञ की बेला है। आत्मस्थ मधुर गूँजते हुए जीवन के क्षण हैं। अपने ही रूप को मिटा कर, रूप संवारने चला हूँ मैं। आत्मा गोविन्द का सामीप्य है, साहित्य है रोम-रोम में उसका, स्पर्श सुख ले रहा हूँ मैं। तन दुलहिन बना है। ब्रह्म ज्वाला के सन्मुख भांवरे लेकर गोविन्द का वरण करेगा। तन यज्ञ की सामग्री बना है। बन के शांकल्य अपने ही अन्तर में प्रज्वलित ब्रम्ह-ज्वालाओं में तिरोहित हो, यज्ञ होगा। यज्ञ की पावन वेदी पर अन्त्येष्टि होगी। मेरे तन की, मेरे रूप की, मेरे मन की। जलूंगा मैं यज्ञ की अमर ज्वाला में। आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव है। मेरा अतिशय प्रिय सखा, मेरी ही अन्तरात्मा। मिलन के अनुपम क्षण हैं ! बिसर गया है वाह्य जगत ! भस्म हो गये हैं संकीर्णता के विचार सारे। व्यापक स्वरूप को ले रहा हूँ मैं। वाह्य जगत की सम्पूर्ण चिताओं को जला कर एक चिता में स्वयं भी जल कर, ज्योतियों का अग्निवेश होकर, अपने ही भीतर लौट आया हूँ। गोविन्द का सामीप्य है। कन्हैया का संग है। एक ही विचार है। अंग-अंग में कृष्ण रूपी ज्योतियां प्रज्वलित हों। मिटा के स्वयं को कृष्ण में खो जाऊ मैं, कृष्ण ही हो जाऊ मैं।

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्य्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १.५२.

सर्वोत्तम सूर्यलोकों का वरण हो महान रश्मियों में यज्ञ होकर उत्पन्न हो !

(पुरूतमम्) लोकों में भी सर्वोत्तम लोक में उत्तम पुरों में (पुरूणामीशानं) उत्तम लोकों में भी सर्वोत्तम सूर्य लोक में (वार्याणाम्) वरण होने हेतु, वरण करने हेतु [इन्द्रं] ब्रह्म ज्वालाओं की [सोमे] ज्योतियों में [सचा] संयुक्त हो [सुते] उत्पन्न होने के लिये निचोड़े जाने लिये।

बैठ गया है जो अपनी ही आत्मा के सम्मुख, अपने अन्तर की ब्रम्ह ज्वाला में यज्ञ होने के लिए। कैसा स्थान है वह ? कैसा लोक है वह ?

आत्मा में, सर्वोत्तम लोक में, विराजमान है वह। देव-लोक सम्पूर्ण लोकों में सर्वोत्तम लोक है जहां सम्पूर्ण सूर्य-लोकों का अधिष्ठाता, संपूर्ण सर्वोत्तम लोकों को प्रकट करने वाला परमेश्वर, आत्म स्वरूप होकर, यज्ञ के सम्मुख विराजमान है। रे जीव! जहाँ परमेश्वर से, मित्र भाव में, तुझे सामीप्य और संग प्राप्त हो! उस लोक से सुन्दर, उस लोक से सर्वोत्तम, दूसरा लोक नहीं हो सकता। यज्ञ की प्रज्वलित ज्वाला है, आत्मा और प्राणवायु का संग है। ब्रम्ह ज्वाला की महान ज्योतियों में, रोम-रोम को यज्ञ करने की बेला है। यज्ञ के अनुपम क्षण हैं! निचोड़ दे स्वयं को, ब्रम्ह ज्वाला में। यज्ञ की वेदी पर स्वयं को समर्पित कर दे। यज्ञ की ज्वालाओं से यज्ञमय होकर, सदा की भांति, एक नये रुप को धारण कर। लोकों में भी सर्वोत्तम लोक में स्थित है तू। साक्षात् परम् ब्रम्ह का सामीप्य, सानिध्य एवं दर्शन प्राप्त है तुझे। बन के यजमान, कर यज्ञ स्वयं को। आचार्य और उपाचार्य के प्रति समर्पित हो, उन्हें शिरोधार्य कर। जीवन के प्रत्येक क्षण को यज्ञ हो जाने दे। यज्ञ का अद्वैत सुख ले।

स घा॑ नो॒ योग॒ आ भु॑वत्स रा॒ये स पुर॑न्ध्याम्। गम॒द्वाजे॑भि॒रा स नः॥१.५.३.

घने बादलों का मिलन गगन में! दौड़ते हुए टकराते हैं! कौंधती हैं बिजलियां! घटाकाश निर्मल होता महाकाश में! तन का मैल भी पुनः यज्ञ हो ज्योति बनता!

(स) जीव, ज्योति (घा) घनेरे, घुमड़ते, टकराते (योग) मिलन (आभुवत्स) गगन में, क्षीरसागर में (पुरन्ध्याम) तन के मैल को धोना, असत्य और अज्ञान से निवृत होना, स्वयं को पवित्र करना (गमत) जाते हैं (वाजेभिः) यज्ञों में (स) जीव, ज्योति (नः) हम लोग।

सघन बादलों का मिलन गगन में, शीघ्रता से दौड़कर आते हैं वे। टकराते हैं वे। कौंधती है उनके अन्तर की बिजलियां। तड़ित और ज्योतियों के प्रहार से, खण्ड-खण्ड हो जाते हैं बादल! उनके तन का मैल भी बरसने लगता है। धुलने लगता है। घटाकाश, महाकाश में निर्मल हो जाता है। उनके तन का मैल, बादलों का जल, जब धरती पर आता है। तो वह जल भी यज्ञों में ग्रहण कर लिया जाता है। पेड़-पौधों के द्वारा जीव-धारियों के द्वारा। घने बादल के तन का मैल ; वह जल, यज्ञ होकर जीवन की ज्योति बन जाता है। कहीं खिला हुआ पुष्प है। कहीं

मोती है, कहीं किसी की गोद में नवजात शिशु है, कहीं भोला कलरव करता चिड़िया का बच्चा है तो कहीं कुलांचे भरता मृगछौना है।

यूँ ही जब अन्तर में घुमड़ते हैं बादल। मथ डालता है योगी, जब अपने अन्तर को। विचारों के द्वन्द में, सन्देहों के घुमड़ते बादलों को टकराता है जब। अन्दर से ज्योतियां प्रकट होती हैं, जो पूर्ण सत्य हैं। भ्रम के बादल छटने लगते हैं, बिखरने लगते हैं! घटाकाश, महाकाश में निर्मल होता है। जीव आत्मा का संग पाता है। ब्रम्ह ज्वाला के, यज्ञ के सम्मुख होता है, सब कुछ सामग्री बन यज्ञ हो जाता है।

असत्य अज्ञान के घुमड़ते बादलों की टकराहट से, जीवन की भूलें, गलतियां और अपराधों से भी, अपने को निर्मल करता योगी, अपने पीछे ज्योतिर्मय राह दे जाता है। उसकी भूलें, असत्य और अज्ञान भी ; बनके ज्योतियां, दूसरों की राह बन जाती है। मार्ग के ज्योतिर्मय स्तम्भ बन, आने वाले युगों को, उन भूलों से दूर करने की चेतावनी बन जाती है। जिस राह से गुजर जाता है योगी, उस राह का कल्याण होता है। वह राह भी ज्योति बन जाती है।

घटाकाश में कौंधती हैं बिजलियां! तीव्रता से टकराते हैं तर्कों, विचारों और प्रतिबद्धताओं के बादल! भयंकर अट्टाहस करते हैं। कौंधती बिजलियाँ! धुल जाते हैं पाप, असत्य और अज्ञान। निर्मल होता है योगी! वाह्य जगत से निवृत एवं विस्मृत होता, अपने अन्तर में झुकता चला जाता है। बन के यज्ञ की सामग्री, अन्तर ज्वाला में तिरोहित हो जाता है। नित्य, चैतन्य, ज्योतिर्मय अवस्था को प्राप्त हो, अनन्त ज्योतिर्मय स्वरूप पाता है। यह गीत है आत्मस्थ योगी का। यज्ञ के सम्मुख बैठे जीव का! भीतर आकर यज्ञ का सम्मुख पा गया है जो। आत्मा संगी हो गया है जो। उसकी भूलें और पाप, असत्य और अज्ञान, इस प्रकार जलकर ज्योति बन गये हैं। जैसे सड़ी हुई, दुर्गन्ध-युक्त मिट्टी, यज्ञ होकर, पवित्र रसीला फल बन जाती हैं। दुर्गन्ध, सुगन्ध होती है। सड़ी हुई मिट्टी, यज्ञ होकर, जीवन के पवित्र सोपान बन जाती है।

यस्यं संस्थे न वृण्वते हरीं समत्सु शत्रंवः। तस्मा इन्द्रांय गायत॥१.५.४.

जिसमें स्थित होने से मृत्यु भी वरण नहीं करती और सम हो जाते हैं मित्र शत्रु सारे! महान रश्मियां गाती हैं उनको!

(यस्य) जिसमें (संस्थे) स्थित होकर (न) नहीं (वृण्वते) वरण करके, जीत सका (हरी) मृत्यु, विष (समत्सुशत्रवः) समान हो जाते हैं मित्र और शत्रु (तस्मै) उनको (इन्द्राय) ब्रम्ह ज्वलायें (गायत) गाती हैं, ग्रहण करती हैं यज्ञ करती हैं।

जिसमें स्थित होकर मृत्यु भी नहीं जीत सकती उसको। आत्मस्थ हो गये योगी को, मृत्यु का भय कैसा ? अन्तर्मुखी हो, जो बैठ गया है मृत्युन्जय आत्मा के सामने ! उसकी मृत्यु कैसी ? उसे भय कैसा ? ब्रम्ह ज्वाला के सम्मुख यज्ञ हो रहा है जो ! उसका मित्र कैसा और शत्रु कैसा ? सम्पूर्ण सचराचर में गोविन्द बसा लिया जिसने, उसके मित्र और शत्रु भी समान हो जाते हैं। गोविन्द बन जाते हैं।

स्थित हो गया था बालक मार्कन्डेय, महाशिव के स्वरूप में ! अल्पायु था वह ! मृत्यु ने उसका वरण करना चाहा ! प्रलयंकर रूद्र का स्वरूप, मृत्यु को भी भयभीत और पराजित कर गया ! मृत्यु उसका वरण न कर सकी ! मार्कन्डेय अमर हुआ !

सर्वोत्तम सूर्य लोकों में, सर्वोत्तम लोक अर्थात देह लोक में विराजमान हो गया है। यजमान का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है। न जीवन है और न मृत्यु है। अमर नित्य आत्मा से जुड़कर, नित्य अवस्था को प्राप्त हो गया है जो! सुनो !! यज्ञ की ज्वालायें, अपने जलते हुए होंठों से, उन्हीं के गीत गाती हैं। उन्हें ही गुनगुनाती हैं। जो ज्योतिर्मय लोकों के नायक हो जाते हैं।

वेद की धाराओं ने हमारे चिन्तन को नये क्षितिज प्रदान किए हैं। लगता है जैसे सारी धरती और आकाश, हमारे भीतर समाते जा रहे हैं। ज्योतियों की लहरें, हमें हर ओर से छू रही हैं। वेद की धाराओं ने हमें सर्वोत्तम लोकों के भी सर्वोत्तम लोक का दर्शन कराया है। अपने ही भीतर के संसार में, बैठ रहे हैं हम।

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः ॥१.५.५.

परम पुनीत को उत्पन्न करने वाली ! यूं प्रकट करती उन्हें, जैसे अन्धकार को चीरते हुये क्षीर सागर में प्रकट होते हैं ज्योतिर्मय सूर्य !

(सुतपाव्ने) यज्ञों के द्वारा पवित्र होकर उत्पन्न हुए (सुता) उत्पन्न करने वालो (इमे) इस प्रकार (शुचयो) पवित्र किया जैसे (सोमासो) ज्योतियों के सागर से (अशिरः) सूर्य (दध्या) क्षीरसागर से।

हे ब्रम्ह ज्वाला! सम्पूर्ण देहों में, ज्योतिर्मय गर्भ स्वरूप प्रज्वलित ब्रम्हाग्नि! अपने ही गर्भ से उत्पन्न किये हुए परम पुनीत तत्व को, तुम बारम्बार पुनीत कर, पुनः-पुनः इसे प्रकट करती हो! जैसे क्षीरसागर में अर्थात गगन में, ज्योतियों का सागर, सूर्य प्रत्येक रात्रि के उपरान्त, पुनः प्रकट हो जाता है। विलक्षण लोला है तुम्हारी!

हे महाग्नि! भस्मी के कणों में छितरा गये हमारे शरीरों को, जो तुम्हारे द्वारा ही प्रकट हुए थे अतीत में! जब पुनः छितरा गये धरा पर! पेड़ों के गर्भ में यज्ञों के द्वारा तुम्हारे द्वारा पुनः उत्पन्न हुए हैं। तन को फिर नाना वनस्पतियों में तथा बारम्बार देह में उसी प्रकार उत्पन्न किया है, जैसे रात्रि के गहन अन्धकार को चीरता हुआ, ज्योतिर्मय सूर्य, प्रकाश को फैलाता प्रकट हो जाता है। तुम्हारे द्वारा ही आवागमन हैं। तुम्हीं से पुनर्जन्म है, पुनर्जीवन है।

हे महाग्नि! हमारे शरीर का सम्पूर्ण रोम-रोम, मन इन्द्रियों और विचार सभी कुछ तुम से बारम्बार प्रकट होता है। हे महाग्नि! हे यज्ञाग्नि! आज फिर अन्तर्मुखी होकर हम, तुम्हारे सामने, यज्ञ के हेतु प्रस्तुत हो गये हैं। हे यज्ञ की ज्वाला! हमें अपने गर्भ में ग्रहण करो! जिससे इस रात्रि के अन्धकार को, हम तुम्हारी गोद में बिताकर, पुनः प्रातःकाल के सूर्य की भांति प्रकट हो सकें। हे क्षीर-सागर की जननी! धरा के लोगों को, क्षीरसागर में नूतन ज्योतिर्मय स्वरूप देकर, प्रकट करो!

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो॥१.५.६.

निचोड़े हुये अपने ही रस को पीकर उसे नित्य स्वरूप प्रदान करती तुम! महान और गुणों का गान करते सब!

(त्वं) तुमने (सुतस्य) उत्पन्न किये हुए को (पीतये) पुनः अपने में ग्रहण करके, पान करके (सद्यो) नित्य, अमर (वृद्धो) महानता, श्रेष्ठता, अलौकिकता,

दिव्यता, भव्यता (अजायथाः) उत्पन्न किया (इन्द्र) महान यज्ञ की ज्वाला (ज्येष्ठ्याय) श्रेष्ठ अलौकिक (सुक्रतो) सुन्दर कर्म को किया।

हे यज्ञाग्नि ! हे ब्रह्म ज्वाला ! कितनी विलक्षण लीला है तुम्हारी ! तुम अपनी बनायी छवि को ही, निरन्तर उत्पत्ति, वृद्धि अलौकिकता, दिव्यता एवं भव्यता प्रदान करती हो। तुम्हारे द्वारा क्षण–क्षण वृद्धि को प्राप्त होने वाले शरीर, हम लोग, जब अन्तर्मुखी होकर स्वयं को तुममें समर्पित करते हैं, तुम में सर्वस्व यज्ञ कर देते हैं। इस 'मैं' को भी तुम ही में जला देते हैं। खो जाते हैं व्यक्तित्व और सम्बोधन सारे ! मिट जाते हैं सब रूप हमारे ! तुम्हारी लीला, विलक्षण लीला के द्वारा हम पुनः नित्य अर्थात् अमर श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त कर, पुनः प्रकट हो जाते हैं। जो मिटते हैं तुममें ! वे पाते हैं अमरत्व को। न मिटने वाला, अमर जीवन। दिव्यता, भव्यता और श्रेष्ठ देवत्व। जिसने तुम्हें समर्पण दिया, जीवन की धाराएं, सदा–सदा के लिए उसको ही समर्पित हो गयी। ऐश्वर्य झुका उसके चरणों में ! धरती का ईश्वर कहलाया है वह !

आ त्वां विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शन्तें सन्तु प्रचेतसे॥१.५.७.

कृपा करती हो जड़ प्रकृति पर, ज्योतिमय जीवन प्रदान करती ! मंगल सुख और शान्ती से संयुक्त करती !

(आ) आकर (त्वां) तुम (विशन्त्वाशावः) जब मृत प्रकृति में, जड़त्व में तुम प्रज्जवलित होती हो तो, उसे जीवन मिलता है। (इन्द्र) हे ब्रह्म ज्वाला (सोमास) ज्योतियों के जल से (गिर्वणः) जीवन के गुरूत्व को धारण करता है (शन्ते) मंगलमय शान्ति से (सन्तु) संयुक्त कर (प्रचेतसे) जीवन व्यापार को गतिमान करती हो।

हे इन्द्र ! हे यज्ञ की ज्वाला ! मौन मृत्यु को प्राप्त हो गयी जड़ प्रकृति में, जब तुम यज्ञ की ज्वाला बनकर प्रज्वलित होती हो! मौत, ठण्डक और खामोशी टूटने लगती है। बिखरने लगती हैं। जड़ प्रकृति में जीवन की धड़कन आरम्भ हो उठती है। जीवन की सुखद उष्मा की गरमाहट, जीवन का कोलाहल, होने लगता है। प्राणों का व्यापार जीवन्त हो उठता है। ठण्डी अंधेरी मृत्यु, ज्योतिर्मय जीवन

को हे यज्ञ की ज्वाला ! जड़त्व और मृत प्रकृति में, तुम ही जीवन हो। जीवन के गुरूत्व का धारण करने वाली, महाशक्ति हो। असत्य और अज्ञान में भटकते हुए जीवन को तुम मंगलमय शान्ति से संयुक्त करने वाली हे मां ! तुम्हीं अंधेरों का निवारण हो ! जीवन ज्योति हो। नेत्रों का प्रकाश हो।

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥१.५.८.

यज्ञ हो उत्पत्ति का तुम ! विष्णु और लक्ष्मी तुम्हीं ! वेद गाते तुम्हें प्रलयंकर रूद्र, आदि ज्वाला, आदि शक्ति तुम्हीं ! तुम्हीं हो ज्ञान रूप ब्रह्मा और वाणियों की सरस्वती तुम्हीं !

[त्वां] तुम [स्तोमा] यज्ञ हो [अवि] उत्पत्ति को धारण करने वाली अवस्था अर्थात् जब पुनः संतति के यज्ञ के लिए नारी रजस्वला होती है, नयी संतति के योग्य होती है, उस अवस्था का नाम "अवि" है। [वृधन] वृद्धि को करने वाली हो। [त्वा] तुम [उक्था] वेद के स्तोत्र [शतक्रतो] अर्थात् प्रलय की ज्वाला आदि शक्ति तथा प्रलयंकर रूद्र के लिए शतक्रत शब्द का प्रयोग होता है [त्वा] तुम हो [वर्धन्तु] ज्ञान के ब्रम्हा [नो] हमारे [गिरः] वाणियों की सरस्वती।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! तुम ही उत्पत्ति का यज्ञ हो अर्थात् महा विष्णु हो ! तथा तुम्हीं सर्वस्व देने वाली महालक्ष्मी हो। तुम जीव मात्र का सर्वस्व हो। तुम ही प्रलय की ज्वाला, आदि शक्ति ! तुम्हीं महाप्रलय का, महारूद्र हो। हे आत्मा ! हे यज्ञ ! तुम ज्ञान के ब्रह्मा हो और हमारी वाणियों की सरस्वती हो।

सत्य रूप में, सम्पूर्ण सचराचर में, तुम्हीं ऐश्वर्य हो ! तुम्हीं लक्ष्मी हो। तुम्हीं ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो। तुम्हीं आदि ज्वाला दुर्गा, पार्वती हो तथा तुम्हीं सरस्वती हो ! तुम से बढ़कर इस सचराचर में कुछ भी नहीं है। धारण रूप ब्रह्मा, सृजन रूप विष्णु, और संहार रूप महेश हो ! ज्ञान रूप सरस्वती, सरस ज्ञान-दायनी हो ! उत्थान रूप लक्ष्मी हो ! आदि ज्वाला, आदि शक्ति दुर्गा, पार्वती हो!

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥१.५.९

सीपी में बन्द मोती की भांति व्याप्त हो सचराचर में ! यज्ञों से तुम्हारे पुनः-पुनः प्रकट हो क्षरण भंगुर संसार ! मृत्यु को पराजित करता जीवन्त हो उठता !

(अक्षितोतिः) सीपी में बन्द मोती अथवा मुंदी हुई पलकों में पुतली (इदम्) इस प्रकार (सिने) हे स्नेहसिक्त ! हम पाते हैं तुमको (वाजम्) यज्ञ करते हुए (इन्द्रः) आत्मज्वालाओं में (सहस्त्रिणम्) सहस्त्र-सहस्त्र (यस्मिन) जिसके कारण (विश्वानि) क्षणभंगुर संसार (पौंस्या) पुनः प्रकट होता है, उत्पन्न होता है।

हे आत्मा ! हे प्राण ! हे यज्ञ ! हम पाते हैं तुमको चहुँ ओर, सर्वत्र ! जैसे सीपी में बन्द मोती होता है अथवा मुंदी हुई पलकों में प्यारी पुतली है। हे ईश्वर ! उसी प्रकार हम तुम्हें सम्पूर्ण देह रूपी सीपियों में आत्मस्वरूप पा रहे हैं। आत्मस्वरूप होकर, सम्पूर्ण सचराचर में, हे घट-घट वासी ! हम तुम्हें व्याप्त देखते हैं। हे नारायण ! आप ही आत्मा के स्वरूप में, प्रत्येक देह में, शरीर में, ब्रम्ह ज्वाला में असंख्य-असंख्य यज्ञ निरन्तर कर रहे हैं। जिसके कारण यह क्षणभंगुर संसार बारम्बार मृत्यु की गहरी नींद को तोड़ता हुआ, पुनः जीवन्त हो उठता है। बूढ़े तन की राख, खेत की मिट्टी, तुम्हारे ही यज्ञ के द्वारा, सुगन्धित वनस्पतियों में, फलों में लौटती है। वे फल, तुम्हारे ही यज्ञ के द्वसास, यथा देहों में, संततियों में लौट जाते हैं। खेत की मिट्टी, किसी के आंगन में, उसके भविष्य का सपना, भोला सुन्दर सा बच्चा बन कर जीवन लीलाएं करने लगती हैं।

खेत की मिट्टी जो किसी के आंगन का बालक बन बैठी है, पुनः जब तुमको सर्मपित होते हैं तो क्षीरसागर में, नित्य अमर यौवन को प्राप्त होती देवत्व को प्राप्त हो जाती है। धरा की धूल, गगन के भाल का तिलक हो जाती है।

मा नो॒ मर्त्ता अ॒भिद्रु॑हन् त॒नूना॒मिन्द्र गिर्वणः। ईशा॑नो यवया व॒धम्॥ ८५.१०.

रक्षा करो हमारी, हमारे ही षड्यन्त्रों से ! हे देव ज्ञानी ! हमारे स्वरुपों को स्वयं में निर्बीज करो ! भस्म करो ! उद्धार हो हमारा !

(मा) मत, रोको (मर्त्ता) मृत्यु (अभिदुहन) षडयन्त्र से [तनूनां] देहों में, शरीरों में [इन्द्र] आत्मा, यज्ञ परमेश्वर [गिर्वणः] गुरूत्व को धारण करने वाले, देवगुरु, वृहस्पति [ईशानों] सूर्य, आत्मा, यज्ञ, परमेश्वर [यवया] बीज सहित [वधम्] मारना, नष्ट करना।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! हे ईशान ! मैं अपनी ही इन्द्रियों के द्वारा रचे भ्रमजाल से, षडयंत्र से, अभिद्रोह से, स्वयं नहीं बच सकूंगा। मेरी वृत्ति तो दस इंद्रियों का दस मुंह बनाकर, स्वयं से स्वयं को अन्धा करने की है। स्वयं को स्वयं से, अभिशप्त करने की है। दस इन्द्रियों को रथ कर, दशरथ बनने की सामर्थ्य हम मे नहीं है। हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! हम को हमारे ही षडयन्त्रों से बचाओ। षडयंत्रों के द्वारा, जो हम असंख्य मृत्यु के भ्रमजाल की फांसियों में, स्वयं को टांग बैठे हैं ! उनमें हे परमेश्वर ! हमें मरने न दो ! हे जीवन के गुरूत्व को धारण करने वाले ! हे गीर्वाण ! हे देवगुरू बृहस्पति ! हमें अन्तर्मुखी करो ! हमें हमारी ही आत्मा की ज्वालाओं में यज्ञ करो। बीज सहित हमारा विनाश करो। यज्ञ की अग्नियों में हमें जलाओ ! हमें भस्म करो ! हमारा उद्धार करो !

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, मधुच्छन्दा ऋषि के पंचम सूक्त का समापन हुआ। हम सब जीवन रूपी यज्ञ के यजमान हैं! आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव है। शरीर यज्ञशाला है। प्राणवायु, यज्ञ के उपाचार्य हैं। हमारे विचार, जीवन का प्रत्येक क्षण तथा तन, यज्ञ की सामग्री है। यज्ञ की सार्थकता है कि हम अपनी इन्द्रियों को वासना एवं अतृप्तियों से रहित करें। अन्तिम रूप से समाप्त करें तथा यज्ञ की ज्वाला में, बीज सहित यज्ञ हो जाएं। यज्ञ होने के उपरांत ही, यज्ञ गर्भ से, नूतन उद्धार सम्भव है।

जब तक खेत की मिट्टी पेड़ों के गर्भ में, आत्मा रुपी यज्ञ में जली नहीं, नये फलों और फूलों का स्वरूप नहीं पाया। जब तक अन्न शरीर में आत्मा रुपी यज्ञ की ज्वाला में जलकर निर्बीज नहीं हुआ, उसने गर्भ में बालक का नया जन्म नहीं पाया। आत्मा की राह जाने वाले योगी ! जब तक संपूर्णता, व्यापकता और सर्वस्वता सहित अपने ही अन्तर की ज्वाला में अन्तर्मुखी होकर, तू बीज सहित नहीं जलेगा। तेरा उद्धार कहां है ? जो जल गया, उसका उद्धार हुआ। जब तक खेत में बीज ने अपने रुप को मिटाया नहीं, उसने खेत की मिट्टी से अपने अस्तित्व को खोया नहीं, पौधा बनकर लहलहा नहीं सका। जो मिटता है वही मिटकर उठता है। जो बिखर जाता है, वही लहलहा उठता है। जो उजड़ जाता है, वही देवत्व में नया घर पाता है। अपनी ही आत्म ज्वालाओं में अपने सर्वस्व को मिटा दे। अन्तर के यज्ञ में सब कुछ न्योछावर कर दे ! अकिंचन होकर, आत्म ज्वालाओं में खो जा! मिट जा ! तेरा उद्धार निश्चित है। तू ही कल का अजर-अमर, ईश्वर है।

ऋग्वेद प्रवचन, प्रथम मण्डल

षष्ठम सूक्त

ज्योतिर्मय, अजर-अमर ऋषि मधुच्छन्दा की अमृतमय वाणी में हम स्वयं को देख पाने में समर्थ हो रहे हैं। असत्य और अज्ञान के, भ्रम के, अंधेरे छटते चले जा रहे हैं। आत्मा रूपी सूर्य का दर्शन, सामीप्य और सानिध्य, हमारे जीवन के क्षणों को सुखद और मनोरम, बनाने लगा है। सम्पूर्ण सचराचर हममें ही व्याप्त होता चला जा रहा है। हम अपने ही व्यापक स्वरूप को देखकर सुखद विस्मय को प्राप्त हो रहे हैं।

यज्ञ के अतिगूढ़ रहस्य स्पष्ट होते चले जा रहे हैं। आत्मा के रूप में परमेश्वर स्वयं यज्ञ के आचार्य हैं, एवं अधिष्ठित देव हैं। प्राणवायु यज्ञ के उपाचार्य हैं। ब्रम्ह ज्वाला अर्थात आत्म-ज्वाला, देवकी, यज्ञ की ज्वाला है। सम्पूर्ण सचराचर तथा हमारा शरीर यज्ञ की सामग्रीं है। जीव स्वरूप हम सब यजमान है। एक यज्ञ बाहर है! एक यज्ञ हमारे भीतर है। बाहर यज्ञ में, वाह्य जगत के असत्य, अज्ञान, मोह और वासनाओं को, सामग्रो के साथ जलाते हुए, अन्तर के यज्ञ में हमें स्वयं को जलाना है। यही इस यज्ञ की कल्पना है।

जीवन के प्रत्येक क्षण, भीतर-बाहर, हर ओर, जल रहा है। यज्ञ की ज्वालाओं में निरन्तर पक रहा है। व्यापक स्वरूप में हम हर ओर प्रकट हो रहे हैं। कहीं भस्मो से अन्न में, तो कहीं घास के तिनकों से गऊ के दूध में, कहीं अन्न के रूप से, माता के गर्भ में शिशु के रूप में, हम सब प्रकट हो रहे हैं। जीवन के यज्ञ ; हर ओर, सर्वत्र, निरन्तर प्रज्वलित हैं। यज्ञ ही जीवन है, जीवन ही यज्ञ है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥१.६.१.

योग करें ब्रम्ह ज्योतिर्मय से ! गतियों का व्यापक स्वामी है, पर स्थिर है ! ज्योतियों का ज्योति है और नित्य है !

(युँजन्तिं) योग करें, जुड़ जायें, मिल जायें (ब्रध्नम्) ब्रम्ह से, आत्मा से (अरूषम्) ज्योतिर्मय, उज्जवल (चरन्तम्) हर ओर गतिमान है। गति प्रदान करने वाला है।

चलाने वाला है (परितस्थुषः) व्यापकता से स्थिर है। (रोचन्ते) ज्योतियों का भी ज्योति है (रोचना दिवि) सम्पूर्ण गगन को, सचराचर को, जीवन ज्योतियों से परिपूर्ण करने वाला है। नित्य है !

आओ योग करें ! जुड़ जायें, अपनी ही आत्मा अनन्त से ! चलो खो जायें स्वयं में ! डूब जायें आत्मा रूपी सागर में ! उस आत्मा रूपी, ब्रम्ह रूपी परमेश्वर को जाने, जो घट-घट वासी हैं। हम सब में व्याप्त है। जो हमें तथा हमारे जीवन को गतिमान करने वाला है। प्रत्येक गति में स्वयं स्थिर है। अर्थात नित्य हो गया है। जो हमारे अन्तर का प्रकाश है। जो हमारे नेत्रों की ज्योति है। जो सम्पूर्ण सचराचर को ज्योतिर्मय बनाने वाला है। ऐसे अनन्त आत्मा से योग करें। अपनी ही अन्तरात्मा से जुड़कर एक हो जायें। स्वयं को स्वयं से अद्वैत करें।

गतियों को प्रदान करने वाला है तथा स्वयं प्रत्येक गति में स्थिर है। भला कैसे ? मिट्टी को फल, फल को जीवन की गति प्रदान करने वाला आत्मा ही तो है। मनुष्य को बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था की गति को प्रदान करने वाला स्वयं आत्मा ही तो है। हर ओर सभी गतियों में सबसे आगे गया हुआ, आत्मा ही तो है। आत्मा के बिना सचराचर की कल्पना अथवा जीवन की कल्पना का क्या प्रयोजन ? सब को गति देकर भी, अनन्त आत्मा स्वयं स्थिर है। शरीर ही बाल्यावस्था, युवावस्था तथा प्रोढ़ावस्था एवं मृत्यु आदि के प्रवाहों को प्राप्त होता है। आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है। न ही आत्मा बाल्यावस्था, युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है। आत्मा अजर-अमर है। इसलिए प्रत्येक गति में स्वयं स्थिर है। जब कि प्रत्येक गति को जीवन्त करने वाला आत्मा ही है।

सम्पूर्ण रोशनियों को ज्योतिर्मय बनाने वाला तथा प्रत्येक ज्योति का जनक भी आत्मा ही है। यदि आत्मा रूपी सूर्य, देह रूपी देवालय से हट जाये, तो मृत आंखों को कोई भी व्यक्ति प्रकाश, रोशनी नहीं दे सकता है। आत्मा रूपी प्रकाश के हटते ही, अन्धेरों में खो जाते हैं। इसीलिए, आत्मा प्रकाश का भी प्रकाश है। सम्पूर्ण ज्योतिर्मय प्रकाश का भी मूल कारण, हमारा अन्तरात्मा ही है। आत्मा से रहित आँखे, ज्योतिर्मय आकाश को भी अन्धेरा कर देती हैं। आत्मा प्रकाश है। आत्मा ही जीवन है। आत्मा ही गति हैं। आत्मा ही गन्तव्य है।

आज अपनी ही अन्तरात्मा से जुड़ जायें! जीव और आत्मा का योग करें। ऐसे जुड़े ! फिर कभी न वियोग हो !

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ १.६.२.

युग्म होकर जिससे कामनाओं का होता हरण, देहाभिमान से होता रहित ! ज्योतियों को धारण करने वाले यज्ञ में ज्योति बन स्थित हो जाता !

(युंजन्त्यस्य) जिससे जुड़ कर (काम्या) सम्पूर्ण कामनाओं का (हरी) हरण हो जाता है विनाश हो जाता है (विपक्षसा रथे) जीव, देह के अभिमान से भी रहित होकर, आत्मस्थ हो उठता है। शरीर की सीमाओं को तोड़कर, आत्मसंगी हो जाता है (शोणा) रक्ताभ ज्योतिर्मय, अग्निमय (धृष्णू) धारण कर लेता है। (नृवाहसा) ज्वालाओं को धारण करने वाले, जीवन यज्ञ को प्रकट करने वाले, यज्ञ को धारण करने वाले !

आओ जुड़ जायें, आत्मा अनन्त से ! जुड़कर जिससे सम्पूर्ण कामनाओं का विनाश हो जाता है। वाह्यजगत के असत्य, अज्ञान व भ्रम नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का संग करके आत्मा से जुड़ करके, सम्पूर्ण कामनाओं से रहित होता शरीर की सीमाओं को भी तोड़ता, शरीर के मोह और आसक्तियों की सीमाओं को भी नष्ट करता, देह भाव से विपरीत हो, आत्म भाव में प्रवेश पाता है। रक्ताभ अग्नियों को धारण करने वाले, जीवन को रक्ताभ ज्योतियाँ देने वाले, अत्मा रूपी यज्ञ में व्याप्त हो जाता है। ऐसे परम सुखद, अपने ही आत्मा अनन्त से जुड़ चलें, आओ योग करे।

इस ऋचा में महाशिव की पौराणिक कथा भी परोक्ष रूप में, उपमा के रूप में ग्रहण की गयी है। यथा :-

(युंज्जन्त्यस्य) जुड़ने गयी थी पार्वती, शिव से पार्वती के मिलन के लिए (काम्या) कामदेव ने (सारथे) बनके सारथि पार्वती का (विपक्षसा) रूद्र से विरोध किया था (नृवाहसा) प्रलय की ज्वालाओं को धारण करने वाले अर्थात महाशिव का!

पार्वती को शंकर से मिलाने के लिए उसका सारथी बन कर चले थे कामदेव! अटल समाधिस्थ थे प्रलयंकारी महाशिव। बन के विपक्षी, बन के महाशिव के शत्रु कामदेव ने चलाया वाण। भभक उठे प्रलयंकारी महाशिव ! भस्म कर दिया काम-देव को।

कामनाओं के देवता को। परन्तु क्या "काम" भस्म हो गया ? नहीं ! महाशिव की देह में अमर होकर "काम" व्याप्त हो गया। पार्वती को महाशिव मिले।

जो शत्रु को भी अपनी देह में अमरत्व देता है ! जिसे वह भस्म करता है, उसे अपने अन्तर में अमर स्थान देता है। रे जीव ! चल तू जुड़ ऐसे अनन्त आत्मा से ! प्रलय के देवता महाशिव से। तू अजर-अमर हो। शत्रु को भी अपने अन्तर में धारण करने वाला, प्रलयंकारी रूद्र अर्थात आत्मा रूपी महायज्ञ। जब शत्रु को इतना असीम स्नेह और प्यार देता है। तू तो भक्त बन कर जा रहा है। तुझे क्यों ने वह अपनी गोद में ले, असीम प्यार से स्थान देगा। आत्मा ही यज्ञ है जिससे जुड़कर तू सम्पूर्ण कामनाओं का विनाश करता, जीव-भाव और देह भाव को भी भस्म करता, ब्रम्ह ज्वालाओं की गोद में व्याप्त हो, अमरत्व का नित्य ज्योतिर्मय स्वरूप पायेगा। आत्मा में ही व्याप्त होने के लिए आतमस्थ योग के लिए प्रेरित हो!

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥१.६.३.

उपाधियों को नष्ट कर अकिंचन हो ! भेद जगत की सीमाओं को तोड़कर मूढ़ हो ! यदि आत्मा की राह में जन्मना चाहता है।

(केतुं) ध्वजाओं को, पताकाओं को, उपाधियों को (कृष्णावन) नष्ट करके (अकेतवे) अकिंचन हो (पेशो) भेदजगत के वाह्य ज्ञान, भेदभाव (मर्या) सीमा (अपेशसे) मूढ़ हो जा (समुषदिभ) प्रातःकाल के सूर्य के समान (अजायथाः) उत्पन्न हो, जन्म को धारण करे।

जला दे पताकाएं, नष्ट कर उपाधियों की ध्वजायें ! अकिंचन हो। उपाधियां ही व्याधियां हैं। समाधियों का अवरोध हैं। मेरी पत्नी, मेरा घर, मेरा बेटा, मिथ्याभिमान, मेरा सम्मान, यह सब उपाधियां हैं। जीवन में केतु के ग्रहण हैं। जिस प्रकार केतु सूर्य को ग्रहण मारता है, उसी प्रकार "मैं" और "मेरों" की उपाधियों की वे ध्वजाएं, हमारे जीवन के आतमस्थ ज्ञान को नष्ट कर देती हैं। जीवन की ज्योतिर्मय राहों से भटककर, हमें अंधेरों के गहन बीहड़ों में बहका देती हैं। उपाधियां ही व्याधियां हैं। और अवरोध हैं, समाधि का। उपाधियां ही केतु हैं। जो आत्मा रूपी सूर्य पर ग्रहण छा देती हैं। नौ करोड़ मील दूर सूर्य को हमारी

आंखे देख लेती हैं, परन्तु केतु से ग्रसित ये आंखे देह में व्याप्त आत्मा रूपी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाती हैं। नौ करोड़ मील दूर, इस सूर्य के जैसे सैकड़ों सूर्यों को तेज देने वाले, आत्मा रूपी सूर्य को हम नहीं देख पाते हैं। मिथ्याभिमान और उपाधियों के केतू, आत्मा रूपी सूर्य पर, ग्रहण बन कर हमें अंधेरों में भटकाते हैं।

इसलिए रे जीव! जीवन के केतु अर्थात उपाधियों को नष्ट कर दे। भस्मसात् कर दे। मिटा के उपाधियों की इन छायाओं को, अकिंचन हो जा। जो अकिंचन नहीं है, वह कुछ पाता भी नहीं है। खाली घड़ा ही भरा जाता है। भरे घड़े को कौन भर पाता है? आत्मा रूपी पवित्र जल के लिए, घड़े को अकिंचन होना जरूरी है। अर्थात खाली होना जरूरी है। जो खाली न हुआ, वह पुनः भरेगा कैसे! इस लिए जला दे सब मिथ्याभिमान! ज्वालाओं को! मिटा दे इन केतुओं को! मै गुरू हूँ! मेरा शिष्य है! मैं बड़ा हूँ, वे सब छोटे हैं! ऐसा सोचना ही स्वयं को केतुओं में फंसाना है। जीवन का अवरोध है। महाविनाश है। हर ओर वह ब्रम्ह है। सब में गोविन्द व्याप्त है। गोविन्द सम्पूर्ण सचराचर का स्वामी है। मैं उसका अकिंचन दास हूँ। वह मालिक है, मैं सेवक हूँ। उसके बाग का माली हूँ। बन के अकिंचन, प्राणी मात्र में उसका दर्शन कर, विनम्र बन कर अर्थात रीते घड़े सा होकर, आत्मा के अमृत को पी। (पेशो मर्या अपेश से) भेद जगत की सीमाओं को तोड़ दे। भेद ज्ञान को मिटा दे। भेदभाव को हटा दे। पुनः मुढ़ हो जा। अभेद आत्मा को, अभेद होकर ही पाया जा सकता है। भेदभाव तो आत्म-ज्ञान का अवरोध है। यह मेरा है! वह पराये हैं। ये मित्र हैं! वे सब शत्रु हैं। इस भेद के जगत को समाप्त कर। एक गोविन्द का भाव कर। मूढ़ और आत्मस्थ होकर, हर ओर ईश्वर रूपी रस को पियेजा। मुढ और अकिंचन हो जा। जो मूढ़ और अकिंचन नहीं, वह आत्मतत्व भी पाता नहीं है। जिसके मन में उपाधियां और भेद जगत बसा है, उसे आत्मा की राह, परमेश्वर का सामीप्य और सानिध्य तो दूर, दर्शन और स्पर्श भी सम्भव नहीं है।

यदि प्रात:काल के सूर्य के समान आत्मा के जगत में नये जन्म में, उत्पन्न होना चाहता है तो वाह्य जगत में मूढ़ और अकिंचन हो। क्यों? इसलिए कि इससे पूर्व भी जब तेरा जन्म हुआ था, तो न तेरे पास भेद जगत था और न ही उपाधियाँ थी। जब तक तू मूढ़ और अकिंचन नहीं हुआ, तूने नया जन्म पाया

कहाँ ! इसलिए ईश्वर की राह में भी तेरा जन्म तभी तो होगा, जब तू पुनः मूढ़ और अकिंचन होगा।

जिस भोलेपन, निष्पाप और पवित्र स्वरूप को धारण करके तूने जन्म पाया था, उसी अवस्था को पुनः प्राप्त करने की अवस्था का नाम, सन्यास है। जीवन के वे भोले क्षण, मासूमियत, निर्मल भोला भाव, जो तेरा जन्मकाल का था, उसी अवस्था को यदि तू फिर पा जाये, तो तू ज्योतियों की राह में, ईश्वर की राह में नया जन्म पाये। बुद्धिमत्ता और उपाधियों के मिथ्याभिमान, नये जन्म का अवरोध हैं। जीवन की प्रतावस्था है।

रे मोक्षमार्गी ! रे सन्यासी ! सन्यास की सार्थकता, तेरे जन्मकाल की निर्मल भेद रहित जीवन की पुनरावृत्ति है। मूढ़ और अकिंचन हो ! अन्तर में आत्मा की राह में, नया जन्म हो ! अन्तर की राह में, तू सूर्य सा प्रकट हो।

देवासुर संग्राम के उपरान्त क्षीरसागर के मन्थन के क्षण ! देव और दैत्य क्षीर सागर मन्थन की तैयारी कर रहे हैं। पर्वतराज मन्थन की मथानी बने हैं। नागराज मन्थन की रस्सी बने हैं। महाविष्णु कछुआ अवतार धारण कर, अपनी पीठ पर पर्वतराज रूपी मथानी को उठाये हैं। महाविष्णु ही पर्वतराज के मस्तिष्क पर अपनी शोभाओं से युक्त होकर विराजमान हैं। जिस ओर नाग का मुख है। उस ओर दैत्य खड़े हैं तथा पूछ की ओर देवता हैं। देव और दानव मथ रहे हैं क्षीरसागर को। अमृत का कलश प्रकट हो गया है। देव और दानव दोनों ही चाहते हैं कि वह इस अमृत का पान करें। महाविष्णु अद्‌भुत लीला करते हैं। वह एक सुन्दरी का रूप धारण कर देवताओं को अमृत पिलाने लगते हैं तथा दूसरे हाथ से दानवों को मद्य पान कराते हैं। राहू नाम का असुर, सूर्य और चन्द्रमा के बीच बैठकर चुपके से अमृत पी लेता है। जब महाविष्णु को पता चलता है कि असुर ने अमृत पी लिया। वह सुदर्शन चक्र के द्वारा उसका सिर धड़ से अलग कर देते हैं। सिर धड़ से अलग तो हो जाता है, परन्तु मरता नहीं है। सिर राहू बन जाता है ओर धड़ केतु। राहू चन्द्रमा को ग्रहण लगाता है और केतु सूर्य को ग्रसित करने लगता है। ये ही कथा निरन्तर है।

सूर्य कहते हैं आत्मा को तथा चन्द्रमा कहते हैं मन को। आत्मज्ञान अर्थात सूर्य केतु से ग्रसित है अर्थात उपाधियों से हमारा आत्मज्ञान डसा जा रहा है तथा मन रूपी चन्द्रमा पर राहू अर्थात विषयान्ध जगत की छाया ग्रसित किये जा रही है तथा जीवन के प्रत्येक क्षण को अन्तर्मुखी होकर हम सब मथ रहे हैं। देवत्व से परिपूर्ण विचार सुर हैं तथा असुरत्व में लिपटे, भेद और विषयान्धता के विचार, असुर हैं। समय ही रस्सी है तथा अन्तर्हृदय क्षीरसागर है। हम सब मथते हैं स्वयं को। विचारों के इस मन्थन में विष भी प्रकट होता है और अमृत भी। यदि देवत्व के विचार अमृत पायें तो जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। यदि मन्थन का अमृत, असुर पी जायेंगे, तो भौतिकताओं की बाढ़ में मनुष्य खो जायेगा। नष्ट हो जायेगा।

उपरोक्त ऋचा इसी कथा की पृष्ठभूमि है। केतु अर्थात उपाधियों को नष्ट कर, अकिंचन हो। भेदजगत की मर्यादा अर्थात देहरी लांघ, फिर मूढ़ हो जा। बाहर से मूढ़ और अकिंचन हो, तो अन्तरात्मा के जगत में नया जन्म हो। अकिंचन और मूढ़ हुए बिना नये जन्म की प्राप्ति नहीं होनी है।

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम् ॥१.६.४.

आ दहन हो आत्मा रुपी धाम में! तेरा पुर्नजन्म हो ज्योतिर्मय स्वरूप में! यज्ञ का नाम चरितार्थ हो!

[आ] आकर [दह] यज्ञ हो, जल जा [स्वधामपु] आत्मा रूपी धाम में [पुर्न] पुनः [गर्भत्वम्] आत्मा रूपी गर्भ से उत्पन्न हो [एरिरे] ज्योतिर्मय सूर्य वनकर [दधाना] धारण कर चरितार्थ कर [नाम] नाम [यज्ञियम्] यज्ञ के।

जब हो जाये तू वाह्य जगत में मूढ़ और अकिंचन! प्रवेश हो तेरा अन्तर के जगत में, आत्मा की राह में तेरा पुर्नजन्म हो। वह कैसे? जब बाहर से मूढ़ और अकिंचन हो, तब तू भीतर आ। आकर यज्ञ कर दे स्वयं को, अपनी ही ब्रम्ह ज्वालाओं में, अर्थात आत्म-ज्वाला रूपी यज्ञ में। इसी आत्मा रूपी यज्ञ अर्थात यज्ञ रूपी गर्भ से तू पुनः उत्पन्न हो, ज्योतियों का सूर्य बन कर। तब यज्ञ का नाम चरितार्थ हो। यज्ञ का सत्य स्वरूप, अपनी ही ब्रम्ह ज्वालाओं में यज्ञ होकर, पुनः

उत्पन्न होने में है। बाहर जो यज्ञ का आरम्भ किया है तूने। उसका समापन आत्मा रूपी यज्ञ हवन में ही होगा।

बाहर से जब मूढ़ और अकिंचन हो जाये तभी तू भीतर के जगत में प्रवेश पाये। आत्मा रूपी यज्ञ की ज्वाला के सम्मुख हो, शरीर रूपी ब्रम्ह ज्वालाओं में यज्ञ हो और ज्वालाओं के गर्भ से तू ज्योतिर्मय सूर्य बन कर उत्पन्न हो ! तब यज्ञ का नाम सत्य रूप में चरितार्थ हो। तब यज्ञ नाम धराये।

महाभारत संग्राम की तैयारियां हो रही हैं। दो महारथी, विलक्षण योद्धा आमने–सामने खड़े हैं। दोनों आठवें पुत्र हैं। एक ने कहा है कि वह अस्त्र नहीं उठायेगा। दूसरे ने कहा कि वह अस्त्र उठवा देगा। दोनों महारथी और महा-योद्धा हैं। एक हैं भीष्म ! दूसरे हैं वासुदेव कृष्ण ! भीष्म, गंगा के आठवें पुत्र हैं, अखण्ड ब्रम्हचारी हैं। भीष्म कुछ उत्पन्न नहीं कर सकते। वाह्य यज्ञ ही भीष्म हैं। अन्तर यज्ञ अर्थात आत्म-यज्ञ, कृष्ण हैं। जिस प्रकार महाभारत में वे दोनों महा-रथी आमने–सामने हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद में ये दोनो योद्धा आमने–सामने हैं। भीष्म की कथा इस प्रकार है।

महाराज शान्तनु युवा हैं। अविवाहित हैं। गंगा नदी के किनारे घूम रहे होते हैं। तभी एक ओर से सुगन्धित हवा का झोंका आकर उनके शरीर से टकरा कर उनमें स्फूर्ति और मद का संचार करने लगता है। सम्राट शान्तनु चौंक उठते हैं। सुगन्ध का रहस्य जानने के लिए, वे वायु की दिशा की ओर बढ़ते हैं। कुछ दूर जाने पर ही उन्हें अति सुन्दरी, ज्योतिर्मय युवती के दर्शन होते हैं। प्रथम दृष्टि में ही महाराज उस पर आसक्त हो जाते हैं। वे इस सुन्दरी से प्रणय कामना करते हैं। युवती भी विवाह के लिए मान जाती है। परन्तु महाराज शान्तनु के सामने दो शर्तें रखती है। प्रथम महाराज उसका अतीत नहीं जानना चाहेंगे। उसके विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछेंगे तथा न ही यह जनाने का प्रयास करेंगे कि वह कौन है ? कहां से आयी है ? दूसरी शर्त उसकी यह है कि उसके जो मन में आयेगा, करेगी ! महाराज उसके किसी कार्य में विघ्न नहीं डालेंगे तथा न ही कारण जानना चाहेंगे।

महाराज शान्तनु दोनों शर्तें मान लेते हैं। विवाह सम्पन्न हो जाता है। समय के साथ वह देवि पुत्रवती होती है। परन्तु अपने बेटे को गंगा में डूबो कर मार

डालती है। प्रतिज्ञाओं में बंधे महाराज शान्तनु मोहान्ध और मोहासक्त न तो उसे रोक पाते हैं और न ही यह कारण पूछ पाते हैं। इसी प्रकार एक-एक करके सात सन्तानें होती हैं। वह स्त्री सातों सन्तानों को गंगा में डूबोकर मार देती है। महाराज शान्तनु मौन पीड़ायें पिये जाते हैं। कुछ कह नहीं पाते हैं। समय के साथ आठवां पुत्र, देवव्रत भी जन्म लेता है। वह देवि उस आठवें पुत्र को भी गंगा में डुबाने चल देती है। महाराज शान्तनु का मौन भंग हो जाता है। सहनशक्ति की सीमा टूट जाती है। वे पूछते हैं कि हे देवि ! तुम बताओ कि तुम कौन हो ? अपने ही पुत्रों की हत्या इस प्रकार क्यों करती हो ? साथ यह भी उससे प्रार्थना करते हैं कि इस आठवें पुत्र को उन्हें दे दें। देवि महाराज शान्तनु को उत्तर देती है कि वह गंगा है। आठो पुत्र, आठ वसु हैं, जो स्वर्ग में अभिशप्त हुए थे। वसुओं ने कामधेनु गाय चुरा ली थी। जिसके कारण वे अभिशप्त हो गये थे। शापवश उन्हें धरा पर जन्म लेना था। वे सातों जो निरपराध थे, केवल संग के कारण अभिशप्त थे ! वे जन्मते ही मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्ग लौट गये। आठवां वसु, जो देवव्रत है, असली चोर वही था। प्रभास नामक आठवें वसु ने ही ऋषि की गाय चुराई थी। गंगा मान जाती है कि आठवां पुत्र युवा होने पर शान्तनु को लौटायेगी। जो भीष्म के नाम से प्रसिद्ध होगा।

आठवें हैं कृष्ण और आठवें हैं भीष्म। भीष्म हैं अटल ब्रह्मचारी, वाह्य यज्ञ। जब जीव की सप्त वासनाएं, ज्ञान की गंगा में खो जाती हैं ! तब जीव देवव्रत हो जाता है। अर्थात उसका जीवन उत्तरायण होता है। देव उत्तर को भी कहते हैं। जब जीव ईश्वर की ओर उत्तरायण होता है। जीवन में प्रथम प्रभास अर्थात प्रभु मास का होता है। प्रभास आठवें वसु का नाम है। इस प्रकार जीव वाह्य जगत को ओर से हटकर ईश्वर की ओर आमुख होता है। वाह्य जगत के विषय, वासनाओं असत्य और अज्ञान को मिटाने के लिए ही वाह्य यज्ञ की कल्पना है। भीष्म ब्रह्म-चारी है, कुछ उत्पन्न नहीं करते हैं। वाह्य यज्ञ, जगत को मिटाकर आत्मा के द्वार को खोल देता है। भीष्म अर्थात वाह्य यज्ञ का यही विशेष कार्य है ! आत्मा रूपी यज्ञ ही श्रीकृष्ण है। वाह्य यज्ञ से मूढ़ और अकिंचन होकर, जब तपस्वी आत्मा रूपी यज्ञ में, स्वयं को जलाता है। तब वह कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न बनकर प्रकट हो जाता है। 'प्र' अर्थात 'विशिष्ट'। 'द्युम्न' अर्थात 'ज्योतियां' ! ज्योतियों को धारण

करने वाला ! जिसे वैदिक संस्कृति में 'एरिरे' कहते हैं। जिस प्रकार महाभारत में दोनों महारथी आमने-सामने हैं, उसी प्रकार यज्ञ में यह दोनों भी आमुख है। बाहर के यज्ञ से मूढ और अकिंचन हो, उपाधियों को अर्थात केतु को नष्ट कर, अकिंचन हो जा। भेद जगत, वासना जगत को समाप्त कर। मूढ़ हो पुनः अन्तर जगत में आ ! अपनी ही आत्म ज्वाला में जल! ज्योतियों के गर्भ से प्रद्युम्न बनकर अर्थात ज्योतिर्मय सूर्य बनकर, अमर स्वरूप को धारण करता, प्रकट हो जा। यज्ञ के नाम को धारण कर। यज्ञ नाम चरितार्थ कर।

बीळु चिंदारुजत्नुभिर्गुहां चिदिन्द्र वह्निभिः। अविंन्द उस्रिया अनुं॥ १६५.

दस इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाली, देह रूपी गुहा निरन्तर उत्पत्ति, मोद मंगल और आनन्द को धारण करने वाली, अग्नियों को उत्पन्न करने वाले, आत्मा रूपी सूर्य का अनुसरण कर !

(बीलु) दसों इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाली (चिदारुज) चित्त को ज्योतिर्मय बनाने वाली (तनुभिर्गुहा) देह रुपी गुहा के भीतर निरन्तर विचरण करने वाली (वन्हिभिः) अग्नियाँ, ज्योतियाँ (चिदिन्द्र) चित्त को तथा मन को आनन्द तथा ज्योतिर्मय बनाने वाली (अविन्द) जीव (उस्त्रिया) आत्मा रुपी सूर्य का (अनु) अनुसरण कर। अनुगमन कर !

दसों इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला, जीवन ज्योतियों से देह को जीवन्त करने वाला, मन, चित्त तथा विचारों को भी उत्पन्न करने वाला तथा ज्योतिर्मय बना कर सुखद करने वाली ज्योतियों को, उत्पन्न करने वाला जो सूर्य है, अर्थात आत्मा है। रे जीव ! ऐसे आत्मा रूपी सूर्य का अनुसरण कर ! आत्मा की राह चल ! आत्मा ही वह सूर्य है, जो तेरी देह के सम्पूर्ण लोकों और ब्रम्हाण्डों को ज्योतिर्मय बनाने वाला है। दसों इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाली, अग्नि अर्थात ब्रम्ह ज्वालाओं को भी उत्पन्न करते वाला है। जीवनदायनी शक्ति का जनक है। आत्मा ही ज्योति है, आत्मा ही सूर्य है। आत्मा ही राह है। आत्मा रूपी सूर्य का अनुसरण कर।

अपने आत्मस्थ भाव को पहचानने के लिए मन्दिर में आ। मन्दिर के माध्यम से उस पवित्र मन्दिर को जान, जो तू स्वयं है। मन्दिर तेरी ही प्रतिमूर्ति

प्रतिकृति है। यथा:– पृथ्वी के जैसा मन्दिर का विशाल चबूतरा। धड़ के जैसा गोल कमरा, सिर के जैसा ही मन्दिर का गुम्बद बनाया है। उस पर जूड़े जैसा कलश है। जिस प्रकार आत्मा रूपी सूर्य, तुझमें विराजता है, उसी प्रकार आत्मा जैसी एक मूर्ति इस मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार सूर्य रूपी मन्दिर में, जीव रूपी तू पुजारी है, उसी प्रकार एक निमित्त पुजारी को उस मन्दिर में खड़ा कर दिया है। मन्दिर तुम्हारी ही प्रतिमूर्ति है, प्रतिकृति है। मन्दिर में आओ। मन्दिर को जानो।

शरीर रूपी मन्दिर में, आत्मा रूपी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति तथा तन रूपी देवालाय के प्रति पुजारी की भावना से स्वयं को समर्पित करो। जो अपने प्रति ईमानदार नहीं, वह दूसरों के लिए किस प्रकार सत्यनिष्ठ हो सकता है! मन्दिर और मूर्ती से निज धर्म तथा निज स्वरूप को पहचानो। आत्मस्थ होकर जीना सीखो।

जिस प्रकार पुजारी निरन्तर मूर्ति और मन्दिर को सदा पवित्र रखता है। हमारा भी धर्म है कि हम इस देह रूपी मन्दिर को सदा पवित्र रखें। गन्दा आचरण और गन्दे व्यवहार से कभी इस देवालय को अपवित्र न करें। जिस प्रकार पुजारी पवित्र भोजन ही मन्दिर में मूर्ति को भोग स्वरूप भेंट करता है। हमारा भी धर्म है कि भोजन को आत्म–समर्पित करने के भाव से ही ग्रहण करें। ऐसा कुछ न खायें जो मन्दिर में मूर्ति के प्रति समर्पित न हो सकता हो। जिस प्रकार पुजारी मन्दिर की मूर्ति को गहनों से सजाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी परमेश्वर ने, इन्द्रियों रूपी गहनों से इस देह को बरद किया है। सभी इन्द्रियों को आत्मा का आभूषण जानो। आत्मयज्ञार्थ ही प्रयोग करो। जिस प्रकार परमेश्वर, घट-घट वासी आत्मा के रूप में, जीव मात्र से अभेद भाव से सम्बन्ध तथा व्यवहार करता है, हमारा भी धर्म है कि हम अभेद भाव से, जीव मात्र में अपनी ही आत्मा का दर्शन करें। आत्मा रूपी सूर्य, जीवन की धड़कने और क्षण प्रदान करता हुआ, जीव मात्र से कोई इच्छा अथवा कामना नहीं रखता है। हमारा भी धर्म है कि हम निष्काम भाव से प्राणी मात्र की सेवा करें। वेद की प्रत्येक ऋचा, व्यवहारिक जीवन है, इसे जीवन के प्रत्येक क्षण में धारण करें। उपरोक्त ऋचा में संकेत रूप में यही कहा गया है।

रे जीव ! आत्मा की महत्ता को जान। आत्मा की शक्ति, सामर्थ्य और कृपा के दर्शन अपने अन्तर में कर ! आत्मस्थ होकर जी, आत्मा की राह चल।

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसु गिरः। महामनूषत श्रुतम्॥ १.६.६.

आत्मवत हुआ जो, मति निर्मल हुई उसकी, विद्वता वाणी अग्नियों में आत्मा समाया जिसका ! पाया उसने अनन्त में, अनन्त वास ! गाती श्रुतियां उसे !

(देवयन्तो) आत्मवत् (यथा) हो गया जो (मतिमच्छा) आत्मा में व्याप्त होकर, जिसकी मति निर्मल हुई अर्थात जो सुमति को प्राप्त हुआ (विद्रसुगिरः) जिसकी वाणी में, इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं में तथा सभी प्रकार के कर्म में आत्मा ही व्याप्त, हो गयी (महामनूषत) परमेश्वर को पाने की कामनाओं को पूर्ण कर गया वह (श्रुतम्) वेदों की ऐसी मान्यता है।

आत्मवत् हो गया जो ! आत्मस्थ होकर जिसकी मति आत्मा की राह चल दी। जिसकी सम्पूर्ण चेष्टाओं में, कर्म में, इन्द्रियों में तथा वाणी में, एक आत्मा का भाव हो विराज गया। सारे वेद मानते हैं, सम्पूर्ण श्रुतियों ने गाया है कि वही अनन्त परमेश्वर में व्याप्त होकर, अनन्त हो गया। मोक्ष की कामनाओं से परिपूर्ण हो गया।

आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा ही सर्वत्र, हर ओर गया हुआ है। आत्मा ही जीव मात्र में व्याप्त है। आत्मा ही धारण, सृजन और संहार के द्वारा पुनः पुनः सचराचर को जीवन्त कर रहा है। आत्मा ही मेरे जीवन का जीवन्त बिन्दु है। ऐसा जान कर, जिसने जीवन के प्रत्येक क्षण को आत्म सेवार्थ, आत्मयज्ञार्थ, आत्मवत् होकर आत्मस्थ भाव से समर्पित होकर जिया, उसी ने जीवन के मूल तत्व को पाया है। वही यज्ञ के स्वरूप को जान पाया। जीवन रूपी यज्ञ को करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर नित्य सत्य हो गया। मन्दिर में झुका, मन्दिर से जुड़ा और उसका स्वरूप मन्दिर ही हो गया ! आराध्य की मूर्ति से अद्वैत करता, आराध्य से योग कर, आराध्य हो गया !

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥ १.६.७

ब्रम्हज्वालाओं से युक्त आचार्य और उपाचार्य के सहित यजमान द्वारा जब यज्ञ हुआ ! अन्न उपजा, सीपी में मोती उत्पन्न हुआ ! सभी अर्चनीयों के मंगल, आनन्द और पूज्य भाव को प्राप्त हुआ !

(इन्द्रेण) आत्मा के लिए, उत्थान के लिए (संहि) संयुक्त होकर (अबिभ्-युषा) उत्पत्ति के द्वारा आनन्द उत्पन्न हुआ। सीपी में मोती प्रकट हुआ। (दृक्षते) प्रकट हुए (संजग्मानों) आचार्य, उपाचार्य तथा यजमान से संयुक्त होकर। (मन्दू) आनन्दित हुए (समानवर्चसा) श्रीमान्, पूज्यनीय मनुष्य और अर्चनीय देवता गण।

हर ओर हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे परम् ब्रम्ह ! तुम्हारी ही लीला को देख रहा हूँ। जल की धाराओं में जब दृष्टि जाती है, तो हे यज्ञ ! तुम्हारी सुधि आती है। बन्द सीपी में भी, जो डूबी हुई थी जल में, जब यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित हुई। आत्मा आचार्य बन कर, उपाचार्य प्राणवायु के साथ प्रकट हुआ। जीव यजमान बना। पानी में आग लगी। सीपी में जगमगाते मोती प्रकट हो गये। खेत की गीली मिट्टी में, फूले हुए, पानी से भीगे हुए बीजों में भी, जब प्राण और आत्मा यज्ञ के हेतु प्रकट हुए, ब्रह्म ज्वाला जल उठी, पानी में आग लगी। जीवन की धारा अर्थात जीवन्त कोपलें फूट चलीं। पेड़–पौधे प्रकट हुए। फिर अन्न उपजा।

जिस प्रकार यज्ञ के द्वारा उत्पन्न किये हुए अन्न को भोजन स्वरूप ग्रहण कर, मनुष्य मात्र आनन्दित होते हैं। जिस प्रकार जल में यज्ञ के द्वारा उत्पन्न हुए मोती की मालाओं को, कण्ठ में धारण कर, श्रीमान लोग आनन्दित होते हैं। उसी प्रकार जब जीव यजमान बना, अपनी ही आत्मा के सम्मुख, अपने भीतर झुकता चला गया। ब्रह्म ज्वाला यज्ञ की ज्वाला बनीं, प्राण उपाचार्य हुए, आत्मा आचार्य बन बैठा ! तन सामग्री आत्म ज्वालाओं में, ब्रह्म ज्योतियों में, जगमग जलने लगी। जीव जगमगाते मोती से अमरत्व को प्राप्त कर, देवत्व को प्राप्त हो गया। श्रीमान् लोगों का भी वह अर्चनीय वन्दनीय हो गया।

हे यज्ञ ! मैं तुझे पाता हूँ हर ओर प्रज्वलित होते हुए। तुम्हीं से प्रकट होता है जीवन, सम्पूर्ण धाराओं में। तुम जल द्वारा भी शान्त नहीं होते। वायु भी तुम्हें रोक नहीं पाती है ! सब कुछ सचराचर, सामग्री बन तुम में अर्पित होता। उत्तरोत्तर उत्थान को प्राप्त होता, अमरत्व की ओर बढ़ता चला जाता है। आत्मा यज्ञ का आचार्य है। प्राणवायु उपाचार्य है। आदि शक्ति, आदिज्वाला, ब्रह्मज्वाला ही यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि है। सम्पूर्ण सचराचर सामग्री है तथा जीव मात्र यजमान है। हे यज्ञ ! तुम्हें सहस्त्र–सहस्त्र प्रणाम है।

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ १.६.८.

अमर ब्रम्ह रश्मियों में अन्तर्मुखी होकर जो होता है यज्ञ! सम्पूर्ण कामनाओं के मूल अर्थात पूर्ण ब्रम्हत्व की अमर कामना, करता, पूर्ण !

(अनवद्यै) जिसका कभी वध न किया जा सके। जो अजर–अमर हो। जो धुंआं से रहित अर्थात निर्धूम हो (अभिद्युभिः) ज्योतियों का समुख कराने वाला, ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला। (मखः) यज्ञ (सह) संयुक्त होकर, सहयोग करके (स्वदर्चति) आत्मा में ही अर्चन करता है, आत्मा में यज्ञ करता हैं (गणै) गण, मनुष्य गण [इन्द्रस्य] ब्रम्ह ज्वालाओं से (काम्यै) कामनाओं को प्राप्त होता है।

अजर–अमर, जीवन ज्योतियों को उत्पन्न करने वाले, अर्थात आत्मा में, जो अन्तर्मुखी होकर स्वयं को, आत्मा में ही यज्ञ करता है ! ऐसे मनुष्य, सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली अवस्था को प्राप्त होते हैं। देह रूपी यज्ञशाला में अमर रश्मियों को उत्पन्न करने वाले यज्ञ अर्थात आत्मा में संयोग ही सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति है। आवागमन का पूर्ण विराम है। इस सूक्ष्म सत्य को जानने वाले योगी, तपस्वी, आत्मस्थ होकर जब अपनी अन्तरात्मा में, जीवन के प्रत्येक क्षण को ब्रम्ह ज्वाला में यज्ञ करते हैं, अर्पित करते हैं ! वह सम्पूर्ण कामनाओं की भी महाकामना अर्थात मोक्ष को प्राप्त होते हैं। वे ही जीवन के अभीष्ट को पाते हैं। उन्हीं का जीवन सार्थक है। रे जीव ! अजर–अमर रश्मियों को उत्पन्न करने वाले, आत्मा रूपी उस परमेश्वर का ध्यान कर। अन्तर्मुखी होकर आत्मदर्शन कर। प्रत्येक क्षण जीवन का, इन्हीं आत्म ज्वालाओं द्वारा प्रकट हो रहा है, उनके द्वारा उत्पन्न क्षण को, उन्हीं ब्रम्हज्वालाओं में यज्ञ कर ! वाह्य जगत को, वाह्य यज्ञ में भस्म करता हुआ, अन्तर्मुखी हो। जीवन के प्रत्येक क्षण को जलने दे ! यज्ञ होने दे ! अपनी ही आत्मा के सामने बैठ ! स्वयं को जला, यज्ञ कर !

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि । समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ १.६.९.

अतः ! जीमने के लिये आ गये हम ! हमारे दिव्य और ज्योति स्वरुप, सब कुछ अर्पित हैं तुम्हें ! हे ब्रम्हज्वाला ! सांकल्य की भांन्ति भक्षण करो हमारा !

[अतः] अतएव [परिजमन्न] व्यापकता से जीमने हेतु, व्यापकता से खोने हेतु, व्यापकता से ग्रहण किये जाने हेतु। [आगहि] हम आ गये हैं [दिवा] देवत्व

है जो भी [वा] तथा (रोचनादधि) ज्योतियां बनाने हेतु (समस्मिन) सामग्री के समान हम को [नृंजते] जलाने के लिए, ग्रहण करने के लिए, लगाने के लिए (गिर:) सरस्वती नारायणी, ब्रम्ह ज्वाला।

अतएव व्यापकता से यज्ञ होने हेतु, भोजन रूप में ग्रहण किये जाने हेतु, हे यज्ञ की ज्वाला! हे ब्रम्हाणी! हे विद्या की देवी! हे सरस्वती! हे गिरा! हे वाणी! हम सब समर्पित हैं तुमको। हमें अंगीकार करो! हमें यज्ञ करो, हमें ग्रहण करो! हम समर्पित हैं तुमको। जिस प्रकार यज्ञ की ज्वाला सामग्री को जला कर, अपनी ज्वालामय गर्भ से नूतन ज्योतिर्मय स्वरूप प्रदान कर प्रकट करती है। उसी प्रकार हे मां! हमें ग्रहण करो! हमें यज्ञ करो! हमारे सम्पूर्ण असत्य और अज्ञान को जलाओ। देवत्व और ज्योतियों में हमें पुन: प्रकट करो। हमारा सर्वस्व भस्म हो जाये तुममें। ज्ञान की ज्योतियों में, देवत्व अमृतमय ज्ञान में हमें व्याप्त करें। हम स्वयं को तुम्हारे में अर्पित करते हैं।

इतो॑ वा सा॒तिमी॑महे दि॒वो वा॒ पार्थि॑वा॒दधि॑ । इन्द्रं॑ म॒हो वा॒ रज॑सः ॥ १.६.१०.

वेदना और सुख से रहित! यज्ञ हेतु समर्पित हैं हम! देवत्व और जड़त्व सब कुछ निर्बीज हों!

(इतो वा सातिमीमहे) मृत्यु की वेदना और जलने की पीड़ाओं को भी आनन्द के रूप में लेते हुए वेदना सुख से रहित, हम जलना चाहते हैं। (दिवो वा पार्थिवादधि) जो भी जड़त्व है हमारा उस सब को जला दो (इन्द्र) हे यज्ञ की ज्वाला (महो) महत्व, महानता (रजस:) अणु मात्र, विनम्रता।

मृत्यु की वेदना को भी परमान्द जानते हुए, यज्ञ की ज्वाला की जलन से भी असीम सुख लेते हुए। हे यज्ञ की ज्वाला! हम स्वयं को अर्पित करते हैं, तुम को जो भी जड़त्व और देवत्व है हमारा! सब कुछ जल जाय तुम में। जो कुछ भी महत्व, उपलब्धियाँ मिथ्याभिमान और विनम्रता का भाव है, हमारा। उन सब को जला दो। सम्पूर्ण विचार जलें, भस्मसात हो जांय। ज्ञान और विज्ञान भस्म हो जांय। हे यज्ञ! हमें जलाओ, अंगीकार करो! अणुमात्र भी हमारा, यज्ञ की ज्वाला में भस्म होकर, भस्म हो जाय! हे यज्ञ! हम तुम्हारा ही रूप पायें। यज्ञ हो जायें! यज्ञ में निर्बीज हों हम! इच्छायें, विचार और अतृप्तियां, सब निर्बीज हों!

इति षष्ठम सूक्त समाप्त

ऋग्वेद प्रवचन, प्रथम मण्डल

सप्तम सूक्त

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥१.७.१

गायें महान ब्रम्ह ज्वालाओं के गीत ! सूर्यों की भी सूर्य हैं वे ! मन, कर्म वाणी से करें अनुसरण !

(इन्द्रम्) रे मन ! (इदम्) इस प्रकार, ऐसा (गाथिनो) गाओ गीत (वृहद) व्यापक, महाम (इन्द्रम्) ब्रम्ह ज्वालाओं के (अर्केभिः) सूर्य की भी (अर्किणः) सूर्य हैं (इन्द्रम्) मन से (वाणी) वाणी से, सत्य ज्ञान से (अनूषत) अनुसरण करने की इच्छाओं को प्राप्त हों।

रे मन ! झूम के गा गीत आत्म-ज्वाला के, अपनी ही अन्तरात्मा के। यह ब्रम्ह ज्वाला ही तेरा सर्वस्व है। सूर्यों की भी सूर्य हैं। जीवन का मूल हैं। मन वाणी तथा सभी प्रकार से इन ब्रम्ह-ज्वालाओं का अनुसरण कर। आत्मा की ही राह चल। आत्मा से ही योग कर, अद्वैत हो।

साधना की अमर राह पर निरन्तर हो। भीतर, बाहर हर ओर अपनी ही अन्तरात्मा का दर्शन करता हुआ, आत्मा की ही राह चल। सम्पूर्ण सचराचर में स्वयं को देख। सम्पूर्ण सचराचर से अद्वैत कर। देख कि तू उनमें समाया हुआ है। और सम्पूर्ण सचराचर तेरे भीतर उतर आया है। हर ओर अपनी आत्मा का स्पर्श आनन्द ले। आत्मस्थ होकर जी। आत्म-तत्व को सचराचर में सूक्ष्मता से पहचानने का प्रयास कर। यज्ञ के द्वारा निरन्तर प्रकट हो रहे सचराचर में यज्ञ के सत्य स्वरूप को जान कर, उसी सत्य मार्ग का अनुसरण कर। अमर से जड़। रे मन ! गीत अपनी आत्मा के गा ! उसी का अनुसरण कर !

इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥१.७.२

हे महान ब्रम्ह-ज्वाला ! सूर्य भी जब तुमसे जुड़ा ज्योति का प्रचण्ड उदगम् बना ! जुड़ते हैं जो तुमसे ! बनते अमर ज्योतिर्मय वज्र से !

(इन्द्र) हे ब्रम्ह-ज्वाला (इद्धय्यौं) हे महान ! इस प्रकार (सचा) संयुक्त होना, जुड़ जाना (सम्मिश्ल) संयुक्त होना, जुड़ जाना (आ) आकर (वचोयुजा) सूर्य से जुड़ना, संयुक्त होना (इन्द्रो) ब्रम्ह-ज्वालाओं का (वज्री) वज्र के समान अभेद स्वरूप (हिरण्यय:) स्वर्णिम ज्योतिर्मय ।

हे महान यज्ञ की ज्वाला ! हे आत्मा ! हे यज्ञ ! आप हम में उसी प्रकार व्याप्त हो जाओ, जिस प्रकार सूर्य के साथ संयोग करके, उसे अभेद ज्योतियों का स्वर्णिम कवच प्रदान कर, अमर स्वरूप प्रदान करती हो ।

रे जीव ! रे यजमान ! इन ब्रम्ह-ज्वालाओं की राह चल ! सांकल्य अर्थात हवन सामग्री सा, ब्रम्ह-ज्वालाओं में स्वयं यज्ञ हो जा, स्वयं को जलने दें । जीवन का प्रत्येक क्षण तथा शरीर का बिन्दु-बिन्दु, इन्हीं यज्ञ की ज्वालाओं के संयोग से निरन्तर प्रकट होता, सचराचर में नाना रूप धारण करता, जीवन्त हो रहा है । जीवन्त तत्व, प्रकृति अथवा शरीर नहीं है, यज्ञ की ज्योतियों के वे स्वर्णिम ज्योतिर्मय कण हैं । बन यजमान, आत्मा का आह्वान कर, उन्हें आचार्य का सम्मान दे । प्राण-वायु को उपाचार्य बना ! शरीर के रोम-रोम को सांकल्य की भांति, ब्रम्ह-ज्वालाओं में जलने दे ! यज्ञ की राह चल । स्वर्णिम अभेद ब्रम्ह-ज्वाला से संयुक्त हो, ज्योतिर्मय सूर्य की कान्तियों को धारण करता, ज्योति स्वरूप होकर, क्षीरसागर की ओर उठता चल ! अपने ही अन्तर में प्रतिक्षण दहकते हुए, जगमगाते हुए सूरज सा जल । महा प्रलय की रश्मियों को प्रस्फुटित होने दे । ब्रम्ह ज्वाला से संयुक्त होकर ही सूर्य, स्वर्णिम ज्योतियों से परिपूर्ण होता, लोक लोकान्तर को प्रकाशित करता है । सूर्य की भांति ही अपने अन्तर में निरन्तर प्रज्वलित होती ब्रम्ह-ज्वाला से जुड़ ज्योतियों के स्वर्णिम गर्भ में ज्योतिर्मय अभेद अमृत वज्र सा स्वरूप लेता प्रकट हो । तेरा अतिशय कल्याण हो ।

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥१.७.३.

हे ब्रम्ह ! आप ही दीक्षा गुरू वृहस्पति हैं ! करते जीवन – गुरूत्व का धारण ! अपनी विशिष्ठ ज्योतियों से मिटाते असत्य, अज्ञान, अंधकार !

(इन्द्रो) ब्रम्ह-ज्वाला (दीर्घाय) महान, व्यापक एवं अमर (चक्षस) दीक्षागुरू, देवगुरू वृहस्पति (सूर्य्यं) महान उत्पत्ति को धारण करें, सूर्य सा ज्योतिर्मय

बना कर प्रकाशित करें (आरोहयद) आरोहण कराना (दिवि) क्षीरसागर में, नित्य स्वरूप में (वि) विशिष्ट (गोभि:) ज्योतिर्मय किरणों से युक्त (अद्रिम्) जल के बादलों की भांति (अरैयत्) उद्धार करो, खण्ड-खण्ड करो।

हे महान यज्ञ की ज्वाला! जीव मात्र को उत्पत्ति एवं स्वर्ग देने वाली! हे हमारी अन्तरात्मा! आप ही तो हमारी दीक्षा गुरू हैं। आप ही तो चक्षस हैं। आप के द्वारा ही तो जीव दिव्य-चक्षु को प्राप्त करता है। अपनी ही अन्तरात्मा में सत्य का दर्शन पाता है। हे चक्षु की जनक! हे चक्षस! आप के अतिरिक्त हमारी देह के गुरूत्व को कोई भी धारण नहीं कर पाता। शरीर, जड़ प्रकृति में, सूखी हुयी मिट्टी सा तिरोहित हो जाता है। हे दीक्षागुरू! आप ही इस शरीर के गुरूत्व को धारण कर, इसे प्रति क्षण जीवित रखते हैं। गुरू वही है, जो गुरूत्व को उठाये। ऐसे गुरू तो मात्र अपनी ही अन्तरात्मा है! आप ही हैं!

जिस प्रकार काले, घुमड़ते हुए बादलों को, अपनी विशिष्ट ज्योतियों के वज्र से प्रताड़ित कर, अन्धकार की और जल को निरन्तर बरसाकर, घटाकाश को ज्योतिर्मय महाकाश में निर्मल करती हो, उसी प्रकार मेरे जीवन के अन्धेरों को, यज्ञ की ज्योतिर्मय रश्मियों के वज्र से प्रताड़ित कर, असत्य और अन्धकार को मिटा कर मुझे प्रतिक्षण जीवन्त मानव का रूप प्रदान करती हो। हे यज्ञ! हे हमारी अन्तर आत्मा महान! हमने आपके स्वरूप को पा लिया है। हमारे ही क्षण अब छूने लगे हैं हमको। हे प्रदीप्त! हे ज्योतिर्मय यज्ञ! आप गगन लोला की भांति हमें हमारे स्वरूप में हमारा उद्धार करो! बन के वज्र हम पर प्रहार करो। हमारे जीवन में व्याप्त घटाकाश को ज्योतिर्मय महाकाश में निर्मल करो। हे महा दीक्षा गुरू हमारे गुरूत्व का उद्धार करो।

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १.७.४.

यज्ञों में हम जले हम, इनके सामग्री, सम्पूर्ण उपलब्धियों सहित! हे यज्ञ! उग्र हो! उग्रतर हो! उग्रतम हो!

(इन्द्र) हे यज्ञ! हे महान आत्मा (वाज़ेषु) यज्ञों में (नो) हम को (अव) यज्ञ करो, ग्रहण करो (च) तथा (सहस्त्रप्रधनेषु) हमारी सहस्त्र-सहस्त्र बहुमुल्य

उपलब्धियों को भी यज्ञ करो, जला दो (उग्र) उग्र हो (उग्राभिरूतिभिः) उग्रतर हो, उग्रतम् हो, ज्योतिर्मय महाप्रलय बन जाओ।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! हे महान् ! हर ओर निरन्तर यज्ञों को करने वाले, मेरे अन्तर में प्रस्फुटित हो। हे महायज्ञ ! यज्ञ की सांकल्य के रूप में आज हमको जला दो हमें ही सामग्रीवत् ग्रहण करो। जो-जो कुछ हमने उपलब्ध किया है, मान में, सम्मान में संतान में, भौतिक उपलब्धियों में। हे आत्मन् ! आज सब कुछ तुम्हारी ज्वाला में जल जाय, भस्म हो जाय। हम जलें ! हमारे रूप जलें। हमारी उपलब्धियां जलें। हमारा सब कुछ यज्ञ की सांकल्य, सामग्री, आहूति बन जाय। हे परम् पुनीत ! हमारा वर्चस्व, मैं और हम, सब कुछ तुम में आहूति हो, ज्योति बन जाय। हे महायज्ञ ! उग्र हो ! उग्रतर हो ! उग्रतम हो ! महाप्रलय का रूप धारण करो ! सब कुछ जला दो। ज्योति बना दो ! महा प्रलय के आदित्यों का आवाहन करो। महाप्रलय के वसुओं को प्रलयंकर हो जाने दो ! हमारा अन्त इसी महाप्रलय में हो !

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥१.७.५.

हे महान यज्ञ ! आप ही हमारी मात्र उपलब्धि है ! आप ही हमें क्षीणता से पुष्टता प्रदान करते हैं ! ज्योतियों के संयोग से घटाकाश को महाकाश में निर्मल करते हैं ! हमें सयोग सम्मान प्रदान करें !

(इन्द्रं) हे आत्मा, हे यज्ञ (वयं) हमारे (महाधन) अतिशय बहुमूल्य उपलब्धि एवं ऐश्वर्य (हवामहे) निरन्तर यज्ञों के द्वारा अहो ! (इन्द्रमर्भे) ब्रह्म ज्वालाओं में यज्ञ करते हुए, हमारी क्षीणताओं को नष्ट करने वाले, क्षीणताओं को पुष्ट करने वाले (युंज) संयुक्त हो (वृत्रेषु) काले घनेरे बादलों में (वज्रिम्) ज्योतिर्मय, अमर अभेद वज्र के समान।

हे महान आत्मा ! हे यज्ञ! जला दें सब कुछ आप में हम जब। खो जाये रूप भी हमारा ! आपकी ज्योति ही हमारा ऐश्वर्य और महाधन बने। हे यज्ञ ! आपकी ज्वाला में यज्ञ होकर, आपकी ज्योतियों में, आपकी ब्रम्ह-ज्वालाओं में, पुष्ट होते हुए हम सम्पूर्ण क्षीणताओं को नष्ट करते हुए, ज्योतिर्मय वज्र बने। जिस

प्रकार घुमड़ते हुए घनेरे बादलों में ज्योतिर्मय वज्रप्रकट होता है, उसी प्रकार आवा-गमन और मृत्यु के अन्धेरों को, असत्य, अज्ञान और भटकती हुई वृत्तियों को, ज्योतिर्मय वज्र की भांति छिन्न-भिन्न करते हुए, राह के अन्धेरों को मिटाते हुए, बन के ज्योति, बन के ज्वाला, अमरत्व की ओर क्षीरसागर की ओर, सूरज से बढ़ते चलें।

सनों वृषन्नमुं चरुं सत्रांदावन्नपावृधि | अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः || १.७.६.

निरन्तर यज्ञों के संयोग से जल और अन्न को ना-ना जीवन्त रूप प्रदान करने वाले, विष्णु ! हमें सांकल्यवत ज्वालाओं में भस्मसात करें !

(स) जीव, ज्योति (वृषन्नमुं) वन्दनीय, उत्पत्ति के यज्ञों के द्वारा (चरूं) यज्ञ करते हुए, ग्रहण करते हुए, जलाते हुए (सत्रादावन्नपावृधि) अग्नि के यज्ञों के सत्रों द्वारा अन्न तथा जल से जीव मात्र को उत्पन्न करने वाले एवं उनकी वंश वृद्धि करने वाले (अस्मभ्येम्) हम सब को भी (अप्रतिष्कुतः) यज्ञ करें, समाप्त करें।

जीव मात्र को अन्न तथा जल के संयोग से, अग्नियों में ब्रम्ह ज्वालाओं में, निरन्तर यज्ञ करते हुए सम्पूर्ण सचराचर को उत्पन्न करने वाले, हे यज्ञ! हे परमेश्वर! आपके उन्हीं यज्ञों को प्रणाम करते हुए, हम सब आप से प्रार्थना करते हैं कि हमें इन यज्ञों में पुनः यज्ञ करो, ग्रहण करो ! यज्ञ के द्वारा हमें सम्पूर्णता से ग्रहण करते हुए, हमारे स्वरूपों को मिटा कर, अपने ही स्वरूप में अद्वैत करें। आपकी पावन यज्ञ की ज्वाला में हम जलें, हमारे प्रत्येक स्वरूप, इच्छा और उपलब्धि, सम्पूर्णता और व्यापकता से सदा के लिए जल जायें ! यज्ञ हो जायें ! हम अपने स्वरूप को आपकी ज्वाला में अप्रतिष्कृत कर सकें। स्वयं को मिटा सकें। तब एकी भाव में, आप में अन्तिम रूप से अद्वैत कर सकें।

जल और अन्न के संयोग से हमारे हर ओर अपनी निरन्तर उत्पत्ति के यज्ञों के सत्र आप चला रहे हैं। आप ही के द्वारा सम्पूर्ण सचराचर यथा संतति से वरद् हो रहा है। हे महान यज्ञ ! हमारे भीतर की आँखें सम्पूर्ण सचराचर में आप के इस ज्योतिर्मय स्वरूप का स्पर्श पाने लगी हैं। हे अदृश्य ! आप दृश्य हैं हमको ! हम देख रहे हैं आपके ज्योतिर्मय स्वरूप को ! आपका दर्शन हमने इस दर्श यज्ञ में पा लिया है। महर्षि मधुच्छन्दा की परम् पावन दया के द्वारा, दर्श यज्ञ के

रहस्य हम पर खूलने लगे है। घने घनेरे बादलों सा सगुण साकार का यह रूप, बादलों की भाँति छिपी तड़ित के आभास को अब नहीं छिपा पाता है। गहन अन्धेरों में भी हे पीताम्बर धारी ! हे स्वर्णिम ज्योतिर्मय नील गगन की नीलाभ ज्योतिर्मय रश्मियों के स्वामी ! निरन्तर हर ओर, चल रहे उत्पत्ति रूपी यज्ञों में हमने खोज लिया है आपको। शरीरों के अन्धेरों में छिपे, हे यज्ञ ! पीत आभा एवं नीलाभ ज्योतियों में प्रकट होती उस सुन्दर मोहक छवि का आभास हम निरन्तर पाते हैं। सम्पूर्ण सचराचर में हम देख रहे हैं आपको! आपकी उस रूप छवि के असीम आनन्द को प्राप्त हो रहे हैं। हमारे नेत्रों की कोरें आपकी ज्योतियों के स्पर्श से मुग्ध हैं। हे महा यज्ञ ! हे महान ! हमारे नमन को स्वीकार करें। यज्ञ के महान सत्रों में हमें सांकल्यवत् ग्रहण करें। हमारे स्वरूपों को अप्रतिष्कृत करें। रूप मिटा दें हमारे ! अपने ही रूप में मिला के हम को, हमें संवार दें। हमें बुहार दें ! अपनी ही ज्योति बना दें !

तुञ्जेंतुंञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥१.७.७.

क्षण-क्षण उठता जाता जो ! बनके ज्योतियों का वज्र ! मृत्यु भी न जीत पाती उसे ! ऐसा होता पुष्ट वह !

(तुन्जे-तुन्जे) क्षण-क्षण (य) जो (उत्तरे) उठता जाता है ऊपर को (स्तोमा) यज्ञ की ज्योति बन (इन्द्रस्य) आत्मा के यज्ञ से (वज्रिणः) बन के ज्योतियों का वज्र (न विन्धे) नष्ट नहीं हो सकता, तोड़ा नही जा सकता है। (अस्य) ऐसा (सुष्टुतम) बलिष्ठ और पुष्ट होते हैं।

क्षण-क्षण उठता जाता है जो, बन के यज्ञ की ज्वाला, बन के ज्योति, ब्रम्ह-ज्वाला के यज्ञ से। बनता है ज्योतियों का वज्र ऐसा, जिसे मृत्यु भी नहीं तोड़ सकती ! कोई भी सत्ता और शक्ति उसे खण्डित नहीं कर सकती है। ऐसे पुष्ट अमरत्व को प्राप्त होता है वह।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हमने पा लिया है आपको। आप ही सचराचर के यज्ञ हैं। आप ही सम्पूर्ण सचराचर के स्वामी हैं। आप ही हमारी आत्मा हैं। आप ही हमारा सर्वस्व हैं। हो के अन्तर्मुखी जो कर गया अद्वैत आप से, उसने सम्पूर्ण यज्ञों

को छू लिया है। सम्पूर्ण सचराचर में, देह मात्र के मध्य में वह स्थापित हो गया। जो आप से विपरीत गया। भीतर का मार्ग भूल, आसमानों पर आपको ढूंढने गया। उसने आपको कभी नहीं पाया। सदा भटकता रहा। आप ही की दया और कृपा से, आपके यज्ञ-सत्रों द्वारा, फिर-फिर, उसने जीवन की धाराएं पाई। न पा पाया तो सिर्फ आपको! जिसने आपको न पाया, उसने स्वयं को भी पुनःपुनः गवांया। जिसने पा लिया है आपको। झुकता चला गया अपने ही अन्तर में। जिसने जलाया अपने सर्वस्व को आपकी ही ज्वाला में। क्षण-क्षण जला अपने आप में, बन के सामग्री यज्ञ की, क्षण-क्षण उठा यज्ञ से, बन के ज्योति उठता चला गया। बन के ज्योतियों का वज्र। पायी उसने ऐसी पुष्टता, जिसके आगे झुक गया मृत्यु का देवता भी। यमराज भी जिसे नमन करके पीछे हट गया। अखण्ड है वह, उसे कोई भी खण्ड-खण्ड नहीं कर सकता। जो पूर्ण रूपेण समर्पित हो गया आप को, वह तो आपका स्वरूप ही हो गया। जिसने खोये रूप अपने, उसने पाया रूप आपका! सम्पूर्ण सचराचर की उत्पत्ति का मध्य बिन्दु वही है। वह आप में अद्वैत कर, सम्पूर्ण सच-राचर मध्य में स्थित आत्म-बिन्दु बन, सबके समीप हुआ।

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥१.७.८.

ज्योति और आकर्षण द्वारा नील गगन ग्रहों को गौ समूहों सा चराने वाले! हे सूर्य हमें यज्ञ करो!

[वृषा] श्वेत बछड़ों के [यूथेव] समूहों को [वंसगः] वृद्धि करने वाले, वंश बढ़ाने वाले [कृष्टीरियर्त्योजसा] आकर्षण और यज्ञ के द्वारा ज्योतिर्मय बनाने वाले [ईशानो] हे सूर्य! हे यज्ञ! [अप्रतिष्कुतः] अप्रतिष्कृत।

यज्ञ और सम्मोहन के द्वारा, आकर्षण और गुरुत्वाकर्षण की लीलाओं के द्वारा ग्रहों नक्षत्रों की निरन्तर वंश वृद्धि करने वाले, हे आत्मा! हे सूर्य! आज हमें भी अपने इन्हीं यज्ञों के द्वारा इस रूप से उद्धार कर, इस रूप को मिटाकर, ज्योति स्वरूप प्रदान करें। हे आत्मा! हे कृष्ण! श्वेत बछड़ों के समूहों की भांति नील गगन में, ग्रहों और नक्षत्रों को श्वेत बछड़ों के समूहों की भांति, बन के ग्वाले, चराने वाले! हे आत्मा! हमें भी उसी यज्ञ के द्वारा, ज्योति बनाकर गगन में प्रतिष्ठित करें।

जिस प्रकार बन के ग्वाले, लीला में आप बछड़ों के समूहों को चराते रहे हैं। उनके वंश वृद्धि में निरन्तर सहायक रहे हैं। उसी प्रकार मैं आपको पाता हूँ, ग्रहों और नक्षत्रों के समूहों को, श्वेत बछड़ों के समूहों की भांति, आप ही तो प्रतिष्ठित कराने वाले हैं तथा निरन्तर वृद्धि करने वाले हैं। आकर्षण और गुरुत्वाकर्षण के द्वारा बिन्दुओं को ग्रहों और नक्षत्रों के स्वरूप प्रदान करने वाले, हे ईश्वर! हमने सम्पूर्ण सचराचर में, निरन्तर यज्ञों के द्वारा बिन्दुओं को बालक बनते उसी प्रकार देखा है, जैसे अनन्त क्षीरसागर में बिन्दु यज्ञ के द्वारा जुड़कर ज्योतिर्मय नक्षत्र बनते हैं। हर ओर हे यज्ञ! हम आप को ही निरन्तर यज्ञ के द्वारा सचराचर प्रकट करते हुए पाते हैं। सूक्ष्म बिन्दु यज्ञ के द्वारा, आपके द्वारा, सम्मोहित और आकर्षित होते, ज्योतिर्मय ग्रहों और नक्षत्रों के समूह बन जाते हैं। जिस प्रकार बिन्दु जुड़ते हुए गोवंश की निरन्तरता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार, हे ग्वाले! आप गगन में भी श्वेत बछड़ों के समूहों से, ग्रहों और नक्षत्रों को प्रकट करते, उनके वंश की वृद्धि निरन्तर करते हैं। उसी के द्वारा हे आत्मा! हे यज्ञ, हमें अंगीकार करो, हमें स्वीकार करो। सम्पूर्णता से हमारा सर्वस्व यज्ञ कर दो, जला दो। हमारा रूप मिटा दो। जिससे बन के बिन्दु कण, आपके द्वारा आप पर ही आकर्षित हो, हम आपका सामीप्य और सानिध्य पा सकें। यज्ञ होकर आप में आप ही का रूप हो जायें।

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ १.७.९.

जो एक आत्मा का यजन एकाग्र होकर करता है! वह पंच तत्व में विलीन नहीं होता! एक आत्मा में ही नित्य हो जाता है।

(य) जो (एकः) एकत्व में (श्चर्षणीनां) विचरण करता है, अद्वैत करता है (वसूनामिरज्यति) अग्नियों में भी ब्रम्ह ज्वाला में ही ऐश्वर्य को खोजता, ब्रम्ह अग्नियों में ही स्वयं को समर्पित करता है। (इन्द्र) आत्मा में ही अपने पंचतत्व को यज्ञ करता है, ऐसा व्यक्ति आत्मा अर्थात परमेश्वर को ही पाता है।

एकी भाव में स्थित हो गयी जो! एक ब्रम्ह के अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं करता जो। ब्रम्ह-ज्वालाओं को ही यज्ञ की ज्वाला जानकर, उन्हीं में समर्पित होकर प्रतिक्षण स्वयं को यज्ञ करता हैं, ऐसे योगी पंचतत्व को प्राप्त न हो, एक आत्मा में ही अद्वैत करते, अनन्त हो जाते हैं।

जिन्होंने विषय ओर वासनाओं की अग्नियों का परित्याग किया। जो सांसारिकता की अग्नियों अर्थात ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ और मोह में स्वयं को मिटा न पाये। जिन्होंने सांसारिकता की अग्नियों का सर्वथा बहिष्कार किया। अपनी ही ब्रम्ह-ज्वाला को अर्थात अपनी ही आत्मा को जिन्होंने अग्नि स्वरूप ग्रहण किया। प्रति क्षण जो ब्रम्ह-ज्वालाओं में सामग्रीवत् स्वयं को तिरोहित करते चले गये, यज्ञ में मिटते चले गये। कदापि आवागमन को प्राप्त नहीं होते हैं। एक परमेश्वर में ही वे एकीभाव में स्थित हो जाते हैं। परमेश्वर रूप हो जाते हैं।

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः॥ १.७.१०.

हे यज्ञ महान ! संपूर्ण विश्व को जीवन्त और पुष्ठ करने वाले ? हमें मात्र यज्ञ का स्वरुप दो !

(इन्द्रं) हे आत्मा! हे यज्ञ ! हे परमेश्वर ! (विश्वतस्परि) सम्पूर्ण विश्व को सब कुछ देने वाले, परिपूर्ण करने वाले (हवामहे) यज्ञों के द्वारा, अहो (जनेभ्यः) सचराचर को, जीव मात्र को उत्पन्न करने वाले (अस्माकम्) हम सब को (अस्तु) दे प्रदान करें (केवलः) केवल्य अवस्था अर्थात ज्योतिर्मय पूर्ण ब्रम्हावस्था।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण सचराचर को प्रकट करने वाले, सम्पूर्ण सचराचर में जीवन मात्र उत्पन्न, धारण करने वाले ! ना–ना कामनाओं और इच्छाओं को पूर्ण करने वाले ! निःसंतान को सन्तान देने वाले अज्ञानी को ज्ञान देने वाले, भूखे को भरपेट भोजन देने वाले, अतृप्तों को तृप्ति प्रदान करने वाले, अकिंचन को एश्वर्य से संयुक्त करने वाले ! हे परमेश्वर ! सब को हर ओर से परिपूर्ण करने वाले ! हे दानी ! हे दाता ! आज हम भी आप से कुछ मांग रहे हैं ? आज हम भी आप से कुछ पाने की इच्छा लेकर आये हैं ? हम आप से सिर्फ इतना ही चाहते हैं, कि हमारा सर्वस्व जला दो, हमारी उपलब्धियां मिटा दो। हमारे रूप मिटा दो। हमें मात्र [अस्तु] कहो। हमें अंगीकार करो ! हमें स्वीकार करो। हमें स्वयं में अद्वैत करने का अधिकार प्रदान करो। हम मान नहीं चाहते, सम्मान नहीं चाहते, भौतिकता, ऐश्वर्य संतान अथवा संसार नहीं मांगते। हम सब कुछ मिटाकर, आपसे केवल 'अस्तु' मांगते हैं। हमें 'अस्तु' कहो ! कहो कि तुमने हमें स्वीकार किया। कहो, कि तुमने हमें अंगीकार किया। बस, 'अस्तु' कहो !

इति सप्तम् सूक्त समाप्त — नारायण हरि !

ऋग्वेद प्रवचन, प्रथम मण्डल

अष्ठम सूक्त

ऐन्द्रं सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् । वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १.८.१.

रे जीव ! अमर रश्मियों को जीवन्त करने वाले आत्मा से अद्वैत कर ! वे प्रत्येक जय के दाता हैं, तेरे नित्य सखा है ! अमर रश्मियों से घट भर लें !

(ऐन्द्र) इन्द्रियों से उत्पन्न, इन्द्र का पुत्र, अर्जुन, इन्द्रियों द्वारा अर्जित ज्ञान का समूह अर्थात बुद्धि, जीव। (सानसि रयि) जीवन रश्मियों को तथा जीवन्त क्षणों को शीघ्रता से क्षण-क्षण प्रकट करने वाले, जीवन को देने वाले तथा जीवन को निरन्तर करने वाले (सजित्वानं) प्रत्येक जय को दिलाने वाले, जीवन को सम्पूर्ण उपलब्धियों एवं सभी प्रकार की विजयश्री से संयुक्त करने वाले (सदासहम्) नित्य साथी, सदा साथ करने वाले (वर्षिष्ठम्) महानतम् (उतये) ज्योतियों से (भर) व्याप्त कर, परिपूर्ण हो, अपने अन्तर के घट को भर लें।

रे जीव ! इन्द्र अर्थात मन के पुत्र ! अन्तर्मुखी हो, आत्मा अनन्त को पहचान। सत्य का साथ कर, सत्संगी हो। जिसके बिना तेरा कोई अस्तित्व नहीं है। जिसके द्वारा ही तू जीवन्त है। क्षण-क्षण जो तुझे जीवन ज्योतियों से परिपूर्ण कर रहा है। जिसके द्वारा ही जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक सांस, धड़कन और जीवन है। ऐसी अपनी अन्तरात्मा को पहचान ! वे ही गोविन्द हैं, वे ही श्रीराम हैं, वे ही महाविष्णु हैं वे ही महाशिव हैं एवं वे ही परम्ब्रम्हा कहलाते हैं। वे ही छन्दों में गायत्री हैं। प्राणियों में ॐ हैं तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में वास करने वाले अजर-अमर अविनाशी आत्मा हैं। अपनी ही अन्तरात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप को पहचान ! उनकी ज्योतिर्मय, मोहक, मनोहारी छवि को प्रत्येक क्षण में बसा ले। वे ही तेरे जीवन को सम्पूर्ण उपलब्धियों से परिपूर्ण करने वाले हैं। ऐसी आत्मा अनन्त को पहचान। जो कुछ तूने जीवन में उपलब्ध किया है, उन सम्पूर्ण उपलब्धियों का कर्ता-धर्ता एक आत्मा ही है। आत्मा के हटते ही देह निर्जीव हो जाती है। प्रत्येक जय, पराजय में खो जाती है। जिनके

द्वारा प्रत्येक जय है तथा जिनके द्वारा जय एवं उपलब्धियों का स्थायित्व है। ऐसी पवित्र आत्मा के साथ अद्वैत कर। मत भूल कि तेरी अन्तरात्मा ही तेरा सत्य रूप साथी है।

याद कर जब आत्मा का संग छूट जाता है, जीवन की धडकनें तथा सांसें भी समाप्त हो जाती हैं। आत्मा का संग छूटते ही तेरे बनाये घर-द्वार भी तो छूट जाते हैं। चल देता है तू, बन के अर्थी, बियाबान शमशान की ओर। ढलते सूरज से ढल गये तेरे निर्जीव शरीर को उठाकर चल देते हैं, मित्र स्वजन सारे। ये गलियां छूटती हैं, ये राहें छूटती हैं। छुट जाते हैं मित्र और सम्बन्धी सारे। उठती है दहकती हुई ज्वाला चिता की लकड़ियों से, लपटें शरीर के आर-पार निकल जाती हैं। जैसे तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं था ! तू कुछ भी तो नहीं था ! चिता की लकड़ियों पर शरीर भी तो साथ छोड़ देता है। परछाइयां भी तेरी, तुझे छोड़कर चल देती हैं। रह जाता है नितान्त अकेला, ज्ञान, विज्ञान से शून्य, उड़ जाता है तू बन के एक विस्मृत संस्कार ! खो जाता है सब कुछ !

फिर भी रे जीव ! जिस योनि में तू पुनः-पुनः प्रकट होता है, तेरी ही अन्तरात्मा पुनः तेरा साथ करने के लिये यथा योनि में तेरे पास आती है। नहीं मिलते हैं वे मित्र सम्बन्धी और वे उपलब्धियों के समूह सारे। मिलते भी हैं तो अतीत से अनभिज्ञ, अन्जाने से, अजनवी से। मिलकर भी नहीं मिलते। एक तेरी आत्मा ही तो है जो प्रत्येक योनि में तेरा वाहन, धारण, संचालन और रक्षा करने के लिए फिर साथ पहुंच जाती है। आज ऐसी ही अपनी अन्तरात्मा को भुलाये बैठा है ? मिथ्या क्षण-भंगुर जगत को, जीवन के हर क्षण में बसाये बैठा है ? सांसारिकता के जल से जीवन के घड़ों को भरे हुए है। ना तो वे तेरे साथी हैं, न ही वे नित्य संगी हैं ! नित्यसंगी आत्मा के साथ अद्वैत कर। उससे लिपट ले, जुड़ जा, अद्वैत कर। पवित्र आत्मा से, अमृतमय ज्योतियों से, जीवन के घट भर ले। सांसारिक दुर्गन्ध को मिटाता चल ! सांसारिकता से भर गये अन्तर घट को खाली कर। एक आत्मा है, एक गोविन्द हैं, एक सत्य है, उसी सत्य को सुगन्ध सा सांस–सांस में बसा ले। अन्तर के घट को आत्म ज्योतियों से भर ले ! क्षण-क्षण तप अपनी ही अन्तरात्मा में। क्षण-क्षण पल, अपनी ही आत्मा की गोद में। प्रत्येक विचार को नष्ट हो जाने दे।

आत्मा के गीत गा ! आत्मा का ध्यान कर ! आत्मा की सुधि ले ! आत्मा में स्वयं को यज्ञ कर !

नि येनं मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता ॥१.८.२.

जिसने मुष्टिक को मारा, वृत्र को संहारा ! जो है सन्ताप हर्ता !

(नि येन) कि जिसने (मुष्टिहत्या) मुष्टिक को मारा, जिसकी मुट्ठी में अमृत है। (नि) कि जिसने (वृत्रा) असत्य, अज्ञान के अन्धकार को, वृतासुर को (रूणधामहै) धूल धूसरित किया है (त्वोतासो न्यर्वता) जो जीव को नंगा करने वाला है, निर्वस्त्र करने वाला है तथा अमृत रश्मियों के, ज्योतियों के वस्त्रों से, ज्योतिर्मय स्वरूप प्रदान करने वाला है।

रे जीव ! आत्मा गोविन्द को पहचान ! वे आत्मा अनन्त ही तो तुझे, मृत्यु की वेदना से निवृत्ति दिलाने वाला है। उसकी मुट्ठी में अमृत छिपा हुआ है। ऐसी अजर-अमर आत्मा को पहचान ! आत्मस्थ हो ! वे गोविन्द ही हैं, जिन्होंने कंस के अखाड़े में मृत्यु रूपी मुष्टिक असुर को नष्ट कर मृत्यु को ही पराजित किया था ! ऐसे अमर कृष्ण को पहचान ! वे ही तेरी अन्तरात्मा हैं। वे ही वृत्तासुर से अभिमानी असुरों का संहार करने वाले इन्द्र हैं। वे ही जीवन के असत्य और अज्ञान रूपी घुमड़ते हुए घनेरे बादलों को ज्योतियों के वज्र से खण्ड–खण्ड कर छितराने वाले तथा धूल-धूसरित करने वाले हैं। वे ही घटाकाश को महाकाश में निर्मल करने वाले हैं। पहचान उन्हें ! वे ही गोपियों के वस्त्र हरण करने वाले हैं। वे ही जीवन रूपी गोपी को मोह, असत्य, अज्ञान, मिथ्याभिमान और मोहान्धता के वस्त्रों से निर्वस्त्र कर, ज्योतियों से परिपूर्ण करने वाले हैं। वे गोविन्द ही हैं जिनके सम्मुख जीव मात्र नग्न खड़ा है। वस्त्र से बाहर के अंग को ही ढक पाते हैं हम ! पर आत्मा जो देह में विराजमान है, हजारों आँखों से हमें देख रहा है, उसके सामने हम सब नंगे हैं। वाह्य जगत में ही मिथ्याभिमान और झूठ एवं प्रपंच के मुखौटे लगाकर हम दुनिया को भरमा सकते हैं। आत्मा के जगत में हम सम्पूर्ण वस्त्रों से विहीन होकर, नितान्त नंगे ही तो खड़े हैं। उनके सामने असत्य अज्ञान के परदे भी तो नहीं टिक सकते हैं ! वस्त्र जल जाते हैं, भस्म हो जाते हैं।

मेरे ही नग्न सत्य का सामना करना पड़ता है, अपनी अन्तरात्मा के सामने। फिर क्यों न आज ही झूठ, असत्य, प्रपंच और अज्ञान के इन वस्त्रों को हटा दें। नितान्त नग्न हो, अपने भीतर अपनी आत्मा का सामना करें। सत्य का सामना करने का साहस जुटायें ! आत्मस्थ होने के लिए, अपने जीवन के प्रत्येक सत्य को निर्वस्त्र कर देखना पड़ेगा तुझे। जिसे तू एकान्त के क्षणों में स्वयं देखने का साहस नहीं करता है उसका बाह्य जगत में भी आचरण न कर वह सारे झूठ जो तू बोल रहा है, वह तेरी आत्मा में एक दूरी बनकर, एक दीवार बनकर, अवरोध बनता जा रहा है। इन्हीं दीवारों के अवरोधों के कारण ही तो मिट जाते हैं हम लोग। छूट जाता है संग उस पवित्र आत्मा का। भटकने चल देते हैं पाप योनियों में हम लोग। जो जीव को जड़त्व से रहित कर, ज्योतिर्मय स्वरूप प्रदान करने वाला हैं ऐसी पवित्र आत्मा का साथ कर। भीतर–बाहर, हर ओर, उसी के संग आचरण कर। उसी का होकर जी ! असत्य, अज्ञान, झूठ और प्रपंच के दुर्गन्ध को मिटा दे। गोविन्द रूपी सुगन्ध को बसा ले।

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः॥१.८.३.

हे महान! पाप हन्ता ! हमें वज्र से सयुक्त करो। जय में, युद्ध में, स्पर्धा में!

(इन्द्र) महान (त्वोताम) वृत्तासुर को त्रास देने वाले, (अ) आकर (वयं) हमको (वज्रं) ज्योतिर्मय वज्र (घना) सशक्त एवं पुष्ट (ददीमहि) प्रदान कर, संयुक्त कर (जयेम) विजय में (सं) संयुक्त कर (युधि) युद्ध में (स्पृधः) स्पर्धा में।

हे इन्द्र ! हे महान ! हे आत्मा ! हे गोविन्द ! सम्पूर्ण असत्य और अज्ञान को, संताप एवं विनाश देने वाले ! असत्य और अज्ञान को नष्ट करने वाले ! हे ज्योतिर्मय ! हमको भी अपमी ज्योतियों के वज्र से संयुक्त कर। जीवन रूपी संग्राम में, स्पर्धाओं में, हमें अपनी ज्योतियों के वज्र से संयुक्त करें। हे गोविन्द ! अपने ज्योतिर्मय वज्र के द्वारा हमें इस जीवन रूपी संग्राम में, असत्य, अज्ञान, मोह-अन्धता, भ्रमित सांसारिकता आदि घुमड़ते हुए बादलों के समान, इन विचारों को, ज्योतियों के वज्र से नष्ट कर, हमारे अन्तर में व्याप्त घटकाश को महाकाश में निर्मल कर सकें।

महाभारत की पृष्ठभूमि से उभरती ऋचा अथवा यूँ कहें कि इन ऋचाओं की पृष्ठभूमि से उभरता महाभारत ! एक नित्य युद्ध ! एक संग्राम ! जिसमें जूझ रहा प्रत्येक भारत । दस इन्द्रियां ही दस घोड़े हैं ! आत्मा श्रीकृष्ण सारथि हैं । दस इन्द्रियों के अर्जन से अर्जित, जीव रूपी बुद्धि ही अर्जुन है। जीव, इन्द्रियों के अर्जन से प्रकट हुआ बुद्धि रूपी महारथी ही तो है । इन्द्रियों के अधिपति इन्द्र अर्थात मन का पुत्र है। शरीर रूपी रथ पर आत्मा सारथी है । जीव महारथी है । यज्ञोपवीत गाण्डीव है । मायाओं का महासमर ही "महाभारत" है । अर्जुन की भांति, एक गोविन्द का होकर लड़ना है। जीवन रूपी संग्राम को ! हम सब को! असत्य और अज्ञान रूपी कौरवों को नष्ट करते हुए जीवन की विजय को पाना है । कौरव शब्द का अर्थ है ; "कौ" अर्थात अनन्त, असंख्य । "रव" अर्थात शोर । वासनाओं, अतृप्तियों, इच्छाओं का उभरता शोर ही तो कौरव हैं । जो मेरी मौन साधना को निरन्तर पीड़ित एवं भ्रमित करते हैं। नष्ट करके आज ये शोर, सारे एकान्त, साधना एवं मौन आत्मस्थ भाव में अमृत का पान कर सकूँ । कौरवों के साथी हैं आज मेरे सारे स्वजन । ये सारे स्वजन शरीर के बाहर हैं तथा आत्मा तो बैठा है भीतर । गोविन्द इन सब के विपरीत बैठ गया है । हमें तो गोविन्द का ही होकर जीना हैं। जीवन रूपी संग्राम में सम्पूर्ण वाह्य इच्छाओं, श्रद्धाओं और प्रतिबद्धताओं से मुक्त होना है । अन्तर के स्वामी को ही भीतर बाहर भजना है । यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण भेद जगत का विनाश करते हुए एक आत्मा का, प्राणी मात्र में दर्शन करना है । पितावाद, पितामहवाद, स्वजनवाद, मित्रवाद, गुरूवाद आदि-आदि । इन सम्पूर्ण वादों के भेद को मिटाकर, अभेद आत्मा को ही प्राणी मात्र में देखते हुए आत्मस्थ होना है । हमारे जीवन रूपी संग्राम में सारे वाद, भेद-वाद बन कर रह गये हैं । अभेद हो रहे जीव के लिए, इनसे भी विपरीत होकर युद्ध लड़ना होगा । द्रोण अर्थात मुर्दाखोर पहाड़ी कौवा । भेदभाव जो तथाकथित प्रतिबद्धता के कारण मेरे ही जीवन के जीवन्त क्षणों को मृत कर, नोच-नोच कर, खाये जा रहा है । भीष्म अर्थात भयानक, विष और राक्षस । तथाकथित नातेदारियों के इस तथाकथित प्रतिबद्धताओं में फंसे जाते हैं हम लोग । अभेद आत्मा से विमुख होकर, भेदजगत के इन वादों को पशुवत् ढोया करते हैं । काश ! इन सब वादों के विवादों को मिटाते हुए इन सभी में एक आत्मभाव लाते । भेदभाव को मिटाकर सभी में एक

अभेद आत्मा का दर्शन करते हुए प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं के विनम्र भक्त बन जाते। एक गोविन्द में ही लिपटकर एक गोविन्द हो जाते।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! सम्पूर्ण असत्य और अज्ञान को मिटाने वाले ! हम पर कृपा करो। हे यज्ञ ! हमें अपनी ज्योतियों से संयुक्त करो तथा ज्योतिर्मय वज्र बना दो। जिससे हम इन सम्पूर्ण घुमड़ते बादलों को नष्ट करते हुए आप में व्याप्त हो सकें। आप में खो सकें। आप के ही हो सकें। जीवन रूपी संग्राम में हम आप से जुड़ कर जियें, हम आप से ही जुड़ कर युद्ध करें तथा विजय प्राप्ति में भी हम आप से ही जुड़े रहे, जिससे विजय के मिथ्याभिमान से पुनः मिथ्याजगत में भटकने न दें। हे गोविन्द ! आप युद्ध में भी हमारे साथ रहें। जीव जीवन की सभी स्पर्धाओं में विनम्रता से, आत्मस्थ भाव से हम जुड़े रहें। विजय में भी प्रभू ! हम आप ही में खोये रहें। अब यह विजय पुनः पराजय न हो।

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासह्याम पृतन्यतः ॥१.८.४.

(वयं) हम (शूरेभि) शूरता में (अस्तृभिः) शस्त्र और अस्त्र में (इन्द्र) हे महान (त्वया) आप (युजा) संयुक्त हो, संयुक्त करो (वयम्) हमको (सासह्याम) सारथी बनकर संग हमारे (वृतन्यतः) अश्वों की लगामों को नियन्त्रित कर, रथ का संचालन करो, रथ को विजय की ओर ले जायें।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे गोविन्द ! आप ही सारथी हैं हमारे, आप ही शक्ति हैं हमारे ! आप ही अस्त्र और शस्त्र हैं हमारे ! आप ही सर्वस्व हैं हमारे ! आप से संयुक्त होकर, हम, सिंह से दहाड़ते हुए, सूर्य से दहकते हुए तथा युद्ध में अस्त्र और शस्त्र से शत्रुओं पर प्रहार करते हुए, जीवन रूपी युद्ध को आपके ही संचालन में, विजय की ओर ले जायें। हे गोविन्द ! आप से संयुक्त होकर हम नित्य अवस्था पायें। हमें जीवन रूपी संग्राम में सिंह की शक्ति, सूर्य के तेज से, योद्धा के शौर्य से परिपूर्ण करो। जीवन रूपी संग्राम में, हमें महारथी सा स्वरूप प्रदान करें। हमारी देह रूपी रथ की लगामों को आप स्वयं नियन्त्रित कर, युद्ध का संचालन करें और हमें विजयश्री की ओर ले चलें। जिससे हम, सिंह की भांति दहाड़ते हुये, सूर्य की भांति दहकते—दमकते हुये, महान योद्धा, महारथी बन शत्रुओं का संहार कर, विजयश्री को प्राप्त हों।

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥ १.८.५.

हे महान ! परा शक्ति ! महान उपलब्धियों के दाता ! अमर अखण्ड रूप देने वाले! क्षण भंगुर को अमरता दो।

(महां इन्द्र) हे महान यज्ञ ! हे महान आत्मा ! हे अनन्त परमेश्वर ! (परश्चनु) जीव मात्र में पराशक्ति बनकर, जगमगाने वाले (महित्वम्) महानतम् उपलब्धियों को दिलाने वाले (शव) मृत्यु को, जड़त्व को (प्रथिना) जीवन्त करने वाले (द्यौर्न) हमको जड़त्व से चैतन्य की अवस्था में लाने वाले (अस्तु) हमें, कैवल्य प्रदान करें, हमें 'अस्तु' प्रदान करें। (वज्रिणे) अमर, अभेद, ज्योतिर्मय।

हे महान आत्मा ! हे यज्ञ ! हे गोविन्द ! हर ओर से हमें प्रकट करने वाले, हमें महानतम् उपलब्धियों से परिपूर्ण करने वाले, जड़त्व से जीवन्त ज्योतियों में धारण कराने वाले, मृत्यु को प्राप्त हो गयी देहों को पुनः अतीत से उठाकर जीवन्त शरीरों में लौटाने वाले ! हे आत्मा ! हमें ज्योतियों के इस महानतम् वज्र से संयुक्त करो, जो कैवल्य से पूर्ण ब्रम्हावस्था है। हमें अस्तु कहो ! हमें अंगीकार करो ! हमें योग का अधिकार दो। हमको अपने स्वरूप में मिला लो ! हमारे रूप मिटा दो ! यज्ञ की पूर्णतः को प्रदान करो।

समोहे वा य आशंत नरस्तोकस्य सनितौ। विप्रासो वा धियायवः॥ १.८.६.

मोहासक्ति में। तुम थे तृप्ति हमारी ! सन्तति से वरद करते तुम ! उत्पत्ति शून्य बन जाते उत्पत्ति कर्ता !

[समोहे] मोहासक्ति में, मोह से संयुक्त होकर [वा] तथा [आशत] अघाना, तृप्त करना [नरस्तोकस्य सनितौ] संतान की कामना के लिए यज्ञ की

ज्वालाओं से प्रार्थना करना, संतति से वरद होने के लिए पूजा करना [विप्रासो] उत्पत्ति के ज्ञान से रहित है जो, नपुंसक और बांझ [धियायवः] उत्पत्ति से संयुक्त करना, संतति से वरद करना, संतति को धारण कराना।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! मोहासक्तियों में खोया हुआ था मैं ! सोचता था भोग रहा हूँ, विषयान्ध संसार को। परन्तु सत्य रूप में भोग तो अपनी ही अन्तरात्मा को रहा था। तू ही मुझे वासनाओं में अघा रहा था, तृप्त कर रहा था। हे आत्मा! हे गोविन्द ! असत्य, अज्ञान, अतृप्तियों में भी तूने अघाया मुझे। मूर्खताओं के लिए भी तूने मुझे दण्डित न किया, उनमें भी तूने अघाया मुझे। संतति की कामनाओं को लेकर जब मैं झुका तेरी ही ब्रम्ह ज्वालाओं के सम्मुख। चाहा कि मुझको। भो संतति से वरद कर। हे आत्मा ! हे यज्ञ ! मुझे संतान दे ! जब ऐसी कामनाओं को लेकर झुकता चला गया तेरे चरणों में। तू ही तो था जिसने नपुंसकों और बांझों को संतति से वरद किया। जो उत्पत्ति के रहस्य नहीं जानता है ! जो अपने तन का एक रोम तक नहीं बना पाता है। ऐसे अज्ञानियों को तूने माता-पिता कहला दिया।

मथुरा की जेल है ! कंस की सीलन भरी जेल की कोठरी है ! उसमें बन्दी अवस्था में हैं वसुदेव और देवकी ! अष्टमी की काली अन्धेरी रात है! चहुँ ओर गहन अन्धकार छाया हुआ है ! उसी जेल में महाविष्णु नवजात शिशु के रूप में अवतरित हुए हैं। फिर नंद के गांव आयेंगे। जहां निष्पाप नंद और यशोदा उनकी छठी तथा बाल-लीलाओं का आनन्द लेंगे। लोग वसुदेव और देवकी को भूल जायेंगे। नन्द और यशोदा ही गोविन्द के माता-पिता कहलायेंगे।

मिथ्याभिमानी मन हमारा कंस ही तो है ! इसकी दसों इंद्रियां बहिर्मुखी हैं। आत्मा ही अग्नियों का देवता अर्थात वसुदेव है। ब्रम्ह ज्वालाएं ही देवकी हैं। तन रूपी जेल में, आत्मा रूपी वसुदेव तथा ब्रम्हज्वाला रूपी देवकी ही, प्रत्येक संतान को रूप देती है, जन्म देती है। उत्पन्न हो जाता है जब बालक, तो हम सब नंद और यशोदा की तरह ही उनकी छठी का आनन्द लेते हैं। हमने कब बनाया बालक? क्या हम बालक बनाना जानते हैं ? आत्मा ही तो हर ओर प्रत्येक शरीर में बालक को प्रकट कर रहा है। वे वसुदेव और देवकी ही हैं जो प्रत्येक देहधारी को संतति से वरद् करते हैं। सम्पूर्ण सचराचर में सभी देहधारी नन्द और यशोदा की भांति ही

संतति का पालन करते हैं। यह ऋचा जीवन का सूक्ष्म बिलोया हुआ सत्य है। यशोदा का मक्खन है।

रे मोहान्ध, मिथ्याभिमानी अज्ञान की सीमाओं को तोड़ ! जब अपने तन का एक अंग न बना पाया तो तेरे संतान कहां हुई ! फिर यह मेरा तेरा क्यों ? अपना-पराया क्यों ? वे आत्मा रूपी गोविन्द ही तो हैं जो प्रत्येक असत्य, अज्ञान और मोहासक्ति को भी मुस्कराकर स्वीकारते हैं। तुझे यथा उपलब्धि से वरद करते हैं। उत्पत्ति के ज्ञान से रहित। हे अज्ञानो ! वे स्वयं, माता-पिता बन, तेरे पुत्र को प्रकट करते हैं ! फिर भी सम्मान तुझे ही देते हैं। ऐसी अमृतमय आत्मा गोविन्द को भज ! उन्हीं का संग कर ! उन्हीं में प्रतिक्षण डूबकर जी। आत्म गंगा का अमृत पी। अपने भीतर झुकता चला जा !

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः॥ १.८.७

जिसने गर्भ में ज्योति पात किया, क्षीर सा सींचा गर्भ को ! शिशु को प्रकट कर, स्तनों को दूग्ध से भरा !

(यः) जिसने (कुक्षिः) गर्भ में (सोम) ज्योतियों का (पातमः) पात किया, प्रकाशित किया (समुद्रइव) सागर की भांति (पिन्वते) सींचता चला गया (उर्वीरापो न काकुदः) जहां न पृथ्वी थी, न जल था, न बैल की पीठ पर रखा हल था। माता के स्तनों को दुग्ध से भरा !

याद कर रे मनुज ! तोड़ मिथ्याभिमान सारे ! वह कौन था जिसने गर्भ में ज्योतियों का पात किया। अन्धेरे गर्भ को यज्ञ की ज्वालाओं से, रश्मियों से जग-मग किया। यज्ञ की ज्वालाएं प्रज्जवलित हुई। गर्भ में यज्ञ का संचार हुआ ! उत्पत्ति के क्षण प्रकट होने लगे। फिर सागर सा सींचता गया, वह गर्भ को। गर्भ क्षीरसागर बना। उस दूध के सागर से, क्षीरसागर से, तू भी तो नारायण सा प्रकट हुआ था। जहां न पथ्वी थी, न जल था और नही बैल के कूबड़ पर रखा हल था। फिर कौन था ? किसने किये विलक्षण कृत्य ऐसे ? अचानक शून्य से तू शिशु बन उभरता चला गया ? दौड़ने लगा ! बिन्दु गर्भ के क्षीरसागर में, जुड़कर बालक बन गये ! वह कौन था जो उस नन्हें से गर्भ को सींचता चला गया। गर्भ, अथाह

असीम क्षीरसागर बन गया। जहां शेष-शैया करता तू परिक्रमाओं को प्राप्त हुआ। मायाय तेरा कुछ न बिगाड़ पायी। सुदर्शन-चक्र-धारी, आत्मा रूपी गोविन्द, गर्भ के क्षीरसागर में, तेरी अश्वत्थामा से रक्षा करता रहा। तू नष्ट न हुआ। सुन्दर शिशु सा प्रकट हो गया है। फिर माँ के उभरते स्तनों में दुग्ध रूपी अमृत को प्रवाहित करता चला गया।

उत्तरा के गर्भ को खण्डित करने के लिए अश्वत्थामा ने अजेय प्रहार किया। अश्वत्थामा कहते किसे हैं? "अश्वस्य इव स्थाम् बलम्" = अश्वत्थामा अर्थात माया की भांति जिसका बल कभी नष्ट न हो; जो माया की तरह ही अजर-अमर हो; माया ही तो अश्वत्थामा है। माया के प्रभाव से बचाने के लिए गर्भस्थ शिशु की आज भी गोविन्द; उत्तरा के गर्भ की भांति ही रक्षा करते हैं। वे रक्षा न करे तो प्रत्येक गर्भ खण्डित न हो जाये! याद कर रे जीव! जो बनकर बुनकर तुझे सज्जा रहा यज्ञ की रश्मियों में। जो बन के सुदर्शन-चक्र-धारी, प्रति क्षण रक्षा करता रहा तेरी, अश्वत्थामा के प्रहार से। जन्मते ही, माया में प्रवेश करते ही, जो योग माया से प्रकट हुआ तुम्हारे शरीर में! पुनः अश्वत्थामा के प्रहारों से अर्थात भौतिक मायाओं से प्रतिक्षण रक्षा कर रहा है तेरी! जो ब्रह्म-ज्वाला में निरन्तर यज्ञ करते हुए देह को पुष्ट और जीवन्त कर रहा है! वह आत्मा यदि तेरे लिये सब कुछ नहीं है तो फिर तेरा कौन है? मोहासक्ति, असत्य और अज्ञान का परित्याग कर, मुँद के आंख भीतर जा! मधुर, मनोरम, मनोहर गोविन्द में खो जा। वे गोविन्द ही हैं जो तुझे गर्भ से मनुष्य रूप तक लाने वाले हैं तथा आत्मा होकर, तेरे नित्य साथी हैं। तेरा सदा साथ करने वाले हैं। क्या याद नहीं तुझको?

एवा ह्यस्य सूनृतां विरप्शी गोमंती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥ १.८.८.

मंगल यज्ञों पर सम्मोहित हो खेत मिट्टी चली! नाना यज्ञों में पके फल बन लहलहा उठीं!

(एवा ह्यस्य) यूँ, ऐसे ही, इस प्रकार (सूनृता) मंगल यज्ञों को धारण करने के लिए आत्मा प्रकट हुआ (विरप्शी) ज्योतियों की तरह चली (मही) मिट्टी (पक्वा) पके फल बन कर (शाखा) वृक्षों की शाखाओं (न) हम को (दाशुषे) यज्ञों के द्वारा, यज्ञ करके प्रकट किया।

यूँ इस प्रकार सम्पूर्ण वनस्पतियों में, पेड़ों में, पौधों में, लताओं में, वनों में, उद्यानों में, पुष्प वाटिकाओं में, प्रकट हुए थे गोविन्द ही हमारे। आत्मा होकर विराज गये थे, सम्पूर्ण वनस्पतियों के अन्त हृ्दय में, वे परमेश्वर, यज्ञेश्वर! मनोरम घनश्याम! करने लगे थे यज्ञ! हमारे ही तन की मिट्टी, मोहित होकर यज्ञ की ज्योतियों पर! उनको समर्पित हो गयी थी! पका फल बनाकर हमारे अंगों को यज्ञ के द्वारा लहलहा दिया शाखो पर दुर्गन्ध सुगन्ध बनी थी! अपवित्रता ने पावन रूप पाया था! तू लौट के फिर अपने घर आया। तेरे ही तन की भस्मी, यज्ञ की ज्वाला को समर्पित हुई थी! पौधों के अन्तर्हृदय में यज्ञ हुआ था। तेरा संक्षिप्त हो गया स्वरूप, कितना व्यापक हो उठा था! तू रंग–बिरंगे पुष्पों में, सौन्दर्य और सुगन्ध बन बैठा। एक झिलमिलाती मुस्कान लिये हर ओर तितलियों और पक्षियों को सम्मोहित कर रहा था। चहुं ओर फैल रहा था, व्यापक सुगन्ध बन कर। सुगन्ध और सौन्दर्य का तू अक्षय भण्डार बन उठा था। तू एकता से अनेकता में फैलता चला गया। नाना पके रसीले फलों में तू शाखाओं पर अंग-अंग लहरा रहा था। कितना व्यापक था तू। चहुं ओर छा रहा था। कहीं तो रस था गन्नों से उभरता हुआ! कहीं तू अन्न था क्षुधा की तृप्तियां बना हुआ। तू ही घास में उभर रहा था और गौवों के थनों से अमृतमय पवित्र दूध की बून्दे बन निचुड़ रहा था। अन्धकार, दुर्गन्ध और पाप से पुनः, पावन अमृतमय सुन्दर और ज्योतिर्मय हुआ। आत्मा की पवित्र अंगुलियों का पवित्र स्पर्श ही तो था! सम्मोहक, मनमोहन का जादू ही तो था। तुझे फिर पावन राह पर लौटा लाया था। क्या आज उस आत्मा को, गोविन्द को भूल जायेगा? भीतर की ओर पीठ कर, बाहर-बाहर मुख किये दौड़ेगा? अथवा बाहर की ओर से पीठ घुमाकर, अपने ही मनमोहन पर, भीतर न्योछावर होता चला जायेगा। क्षण है गोविन्द से लिपटने के! बेला है आत्मा का वरण करने की। चाहत है आत्मा में खोकर अद्वैत होने की।

स्वा हि ते विभूतय ऊतयं इन्द्र मॉवंते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषें॥ १.८.९.

गाते हैं जो ज्योतिर्मय विभूतियों को आत्मस्थ होकर! नित्य शान्ति तथा अमरत्व पाते यज्ञ होकर!

(एवाहिते) यूँ ऐसे ही, इस प्रकार (विभूतय) विभूतियों को (ऊतय) ज्योतिर्मय रश्मियों को, आत्मज्ञान की उक्तियों को (मावते) मथते हैं जो, हृदयंगम करते हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक सांस में, रोम-रोम में बसाते हैं जो रोम-रोम को यज्ञ करते हैं, आहूति बनाकर समर्पित करते हैं जो (सद्य) नित्य (चित) मन मति (सन्ति) शान्त होते हैं (दाशूषे) यज्ञ के द्वारा, यज्ञ में यज्ञमय होकर !

गीत है आत्मा का ! आत्मा अनंत का ! खो जाते हैं जो आत्मा की विभूतियों में ! बसा लेते हैं जो आत्म ज्योतियों को प्रत्येक सांस में ! प्रत्येक धड़कन में ! रोम-रोम में बस जाते हैं गोविन्द जिनके । जो मन, बुद्धि, इन्द्रियों, कर्म तथा वचन से आत्मस्थ हो जाते हैं । वे ही सद्य मंगल शान्ति को प्राप्त होते हैं । वे ही यज्ञ से अद्वैत करते हैं । वे ही यज्ञ में खो जाते हैं । यज्ञमय होकर वे यज्ञ स्वरूप प्रकट होते हैं । अजर–अमर अवस्था को प्राप्त होते हैं । नित्य स्वरूप हो जाते हैं । वे ही देवता कहलाते हैं । ईश्वर में व्याप्त होकर, ईश्वर में मिटकर, ईश्वर में अद्वैत कर, वे ईश्वर ही हो जाते हैं ।

एवा ह्यस्य काम्या स्तोमं उक्थं च शंस्यां। इन्द्राय सोमपीतये॥१.८.१०

पान करते हैं ज्योतिर्मय अमृत का वे ! कामनाओं को पूर्ण करने वाले यज्ञ से करते अद्वैत!

(एवा ह्यस्य) यूं ही, ऐसे ही (काम्या) कामनाओं से परिपूर्ण करने वाले (स्तोम) यज्ञ, वेद (उक्थमं) स्तोत्र, सूक्त वेद के सूक्त, ऋचाएं, यज्ञ की ज्वालाएं (च) तथा (शंस्या) प्रशंसा करना (इन्द्राय) ब्रम्ह ज्वालाओं की, ब्रम्ह अग्नियों की (सोम) ज्योतियों का, अमृत का (पीतये) पान करते हैं ।

सुनो ! गीत सुनो ! वेद के ! आत्म–गंगा के ! वेद की ऋचाओं को, यज्ञ की इन ज्वालाओं को, जीवन यज्ञ के दहकते हुए यज्ञ कुण्डों को, जिसने बसा लिया स्वयं में । जिसको प्रत्येक धड़कन में गूंज उठते हैं वेद की ऋचाओं अर्थात जीवन यज्ञ के स्त्रोत ! उसकी पूर्ण हुई सम्पूर्ण कामनाएं ! निःसन्देह हुए वे लोग । आत्म-ज्वालाओं की ही प्रशंसाओं को गाते चले गये । यज्ञ की रश्मियों में जो प्रतिक्षण

सांकल्यवत् यज्ञ होता चला गया ! स्वयं को ब्रम्ह ज्वालाओं में मिटाता चला गया ! जिसको प्रत्येक सांस और धड़कन वेद के गीत और प्रशंसा बनकर उभर उठे, उसने ही मंगल शान्ति पाई, उसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हुए। यज्ञ की ज्वालाओं में निरन्तर यज्ञ होता हुआ प्रकट हुआ ! मोक्ष पाया उसने। उसी ने ब्रम्ह ज्वालाओं के अमृत का पान किया। पी ब्रम्ह अग्नियों का अमृत वह अजर-अमर अविनाशी हुआ।

रे जीव ! मिलन के मधुर क्षण हैं। आत्मस्थ हो ! झूम के गीत गा ! ब्रम्ह ज्वालाओं में झुकता चल, मिटता चल, ब्रम्ह अग्नियों में गूँजता चल। बन के वेद का गीत ! धड़क प्रति क्षण अमृतमय ऋचाओं में। गीत में खो जा ! वेद के गीत हो जा ! मुंद के आंख अन्तर्मुखी हो। ब्रम्ह ज्वालाओं का संग कर, ज्योति रस पी। ज्योतियों में, आत्म–ज्वालाओं में डूब जा। जला दे स्वयं को। फिर उभरेगा तू, ब्रम्ह अग्नियों के गर्भ से, अजर–अमर अविनाशी होकर।

आठवां सूक्त समाप्त

❁ ऋग्वेद प्रवचन ❁

प्रथम मण्डल, नवम् सूक्त, मधुच्छन्दा ऋषि

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिःसोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥१.९.१.

(है खेल अंधी मछली का, संसार हो चाहे राह हो धर्म की ; जिसने पाया सत्य ऐसा, वह हुआ अमर।)

(इन्द्रेहि) हे महान ! हे यज्ञ! हे प्रदीप्त ! हे परमेश्वर (मत्स्यन्धसो) अन्धी मछली के खेल की कहानी है सारी। विश्वेभिः) संसार के सामने खड़ा हूँ अथवा (सोम-पर्वभिः) ज्योतियों की राह हो तुम्हारी। जिसने पाया इस सत्य को (महां अभिष्टि-रोजसा) जीवन के महा अभीष्ट अर्थात ज्योतिर्मय मोक्ष को प्राप्त हो गया।

हे आत्मा ! हे यज्ञ ! हे प्रदीप्त ! हे परमेश्वर ! जो कुछ भी जीवन जगत है, सब अंधी मछली का खेल ही तो है। जो बींध पायेगा इस अंधी मछली की आंख को, वही पायेगा द्रोपदी को। तेल में पड़ते बाण, क्योंकर बींध पायेंगे लक्ष्य को। वे सब

तो लक्ष्यहीन हो जायेंगे। उनके साथ ही लक्ष्यहीन होकर, जीवन भी महा पतन को चला जावेगा।

महाराज द्रुपद के यहां दूर–दूर से आये राजा और युवराज विराजमान हैं। स्वयंवर की बेला है। मंडप के बीचोबीच एक लकड़ी का खम्भ खड़ा है। उस खम्भे के ऊपर एक लकड़ी की चर्खी बंधी हुई है। चर्खी के साथ डोरी से बंधी हुई एक लकड़ी की मछली है, जो चर्खी के साथ ही गोल-गोल नाच रही है। अलटती-पलटती, लहराती, निरन्तर खम्भे के चारों ओर चर्खी के साथ भागती जा रही है, परिक्रमा कर रही है। खम्भे के ठीक नीचे, एक बहुत बड़े कढ़ाही में तेल खौलाया जा रहा है। खौलते हुये तेल में, पड़ती हुई लहरें तथा लहरों पर नाचती हुई मछली की भ्रमात्मक परछाई, जो निरन्तर लोप होती, पुनः प्रकट होती है। स्वयंवर की शर्त है कि जो तेल में परछांई को देखकर, नाचती हुई मछली की आंख को एक बाण से बींध देगा, उसी के साथ द्रोपदी का विवाह होगा। सभी राजा और युवराज प्रयास कर निराश हो उठे हैं। मछली को देखे बिना अटपट भागती हुई मछली की, लहरों में फिसलती हुयी परछाइयों को देख कर, आंख बींधना कोई आसान बात नहीं है। दस इन्द्रियों से अर्जित कोई अर्जुन ही होगा, जो द्रुपद अर्थात तीव्रता से वायुवेग के समान भागती हुई द्रुपद की पुत्री अर्थात संज्ञा अर्थात जीवन के सत्य को वर लेगा। कृष्ण अर्थात आत्मा को समर्पित हो गया, एकाम् बुद्धि, मन को इन्द्रियों से उत्पन्न अर्थात इन्द्र का पुत्र अर्जुन ही बींध पाता है। इसी शरीर रूपी रथ पर, जहां वह महारथी है। आत्मा इस शरीर रूपी रथ को प्रतिक्षण चलानेवाला, जीवन्त एवं गतिमान करने वाला, सारथी है।

वेद की अमृतमय ऋचा, मुझे मेरे भीतर–बाहर दर्शन करा रही है। जीवन जगत जो कुछ भी है अंधी मछली का खेल ही तो है? सत्य, इन्द्रियों से विपरीत जहा है। बाहर हर ओर सत्य की परछाँइयां छितराई हैं। परछाइयों को देखते हुए सत्य को संधान करना ही तो जीवन का लक्ष्य है। तपस्वी की इकलौती राह है। मेरी जिन्दगी भी चर्खी पर नाचती हुई मछली की भाँति है। जय–पराजय, यश–अपयश, मान–अपमान, मिलन-विछोह, जन्म-मृत्यु, निरन्तर इन्हीं परिक्रमाओं में बंधी हुई जिन्दगी, लकड़ी के खम्भे पर नाचती हुई मछली की तरह ही तो हैं।

न जाने कितने जन्म, न जाने कितनी योनियां, जीवन यात्राएं यूँ ही चलती रही हैं। न जाने कब तक चलती रहेंगी ? सब कुछ अंधी मछली का खेल ही तो है।

सोचता हूँ पत्नी को भोगता हूँ ! संसार को तथा उपलब्धियों को भोगता हूँ। यदि नपुंसक होता, इन्द्रियों में सामर्थ्य ही न होती, तो भला भोगता किसको ? पत्नी, उपलब्धि अथवा संसार को ? मैंने इन्द्रियों की सामर्थ्य के अनुरूप ही तो भोगा ? न पत्नी ने पति को भोगा, न पति ने पत्नी को। असत्य, अज्ञान से भ्रमित, अंधी—मछली की भांति ही मान रहे हैं, कि हम संसार को भोगते हैं, पत्नी को भोगते हैं व उपलब्धियों को भोगते हैं। भोग तो अपनी ही इन्द्रियों को इन्द्रियों की सामर्थ्य के अनुरूप रहे हैं। इन्द्रियों की सामर्थ्य से बाहर भी तो कुछ भोग न पाया। इन्द्रियों को सामर्थ्य मिली अन्तरात्मा से। भोग अपनी ही आत्मा को रहा था। धन्यवाद पत्नी को, उपलब्धियों को, संसार को दे रहा था। उस कुत्ते की तरह, जो हड्डी को मुँह में दबा लेता है। हड्डी को चूसने लगता है। हड्डी सख्त होती है। जिससे उसके अपने जबड़े ही फट जाते हैं। वह अपने ही जबड़ों के रक्त को चूस रहा होता है परन्तु अज्ञानतावश वह मान लेता है कि हड्डी के रस को चूस रहा है। धन्यवाद संसार को दे रहा है। आनन्द तो वहीं था, जहां सर्वानन्द आत्मा अनन्त विराजमान था। तेल में बाण पड़ रहे थे और हम थे लक्ष्य की कामना संजोये हुए। सारे संसार में प्रति क्षण हमने परछांइयों से ही लिपटना चाहा। परछाइयों से ही सम्बन्ध बनाना चाहा। जो हमारा निकटतम समाधान, हमारा अपना अन्तरात्मा था। उसकी हमें भी सुधि नहीं थी। परछाइयों में ही लक्ष्य खोज रहे थे। कुत्ते की तरह रस अपनी ही आत्मा का पी रहे थे और मानते थे कि चूस हड्डी को रहे हैं।

मन्दिर में आये हैं हम, मूर्ति के चरणों में सर झुका दिया है। पुनः खेल अन्धी मछली का है। मन्दिर हमारे ही शरीर की प्रतिकृति है तथा मूर्ति हमारी आत्मा का बिम्ब है। भले झुक बाहर रहा हूँ। परन्तु झुक भीतर तो भी रहा हूँ। यहां पर भी परछाइयां ही दीखती है। सत्य तो उनके विपरीत हमारे अन्तर में आत्मा होकर विराजमान है। पुनः खेल मत्स्य अंधस्य का है। यज्ञ की ज्वालाओं में आहूतियां दे रहे हैं। परन्तु जलना तो हमें अपने ही भीतर है। शरीर ही सामग्री है।

आत्मा यज्ञ का अधिष्ठित देव है। ब्रम्ह ज्वाला ही यज्ञ की ज्वाला है, देवकी है, कौशल्या है। प्राण उपाचार्य है। और हमारा आत्मा ही यज्ञ का अधिष्ठित देव अर्थात आचार्य है। जीव रूप में हम सब यजमान हैं। अपने ही भीतर जल रहे हैं, सृष्टि रूपी यज्ञ में। वाह्य यज्ञ में आहूति संकल्पों के साथ बाहर दे रहे हैं। परन्तु हमें जलना तो अपनी ही आत्म ज्वाला में है। पुनः खेल मत्स्य अंधस्य का है। दिखती हैं मात्र सत्य की परछाइयां। परछाइयों के विपरीत सत्य खड़ा है। परछाइयों में ही, उसकी छबि को देखकर विपरीत लक्ष्य का संधान करना है। जो बींध पायेगा लक्ष्य को, वही पायेगा ब्रह्म ज्ञान, ब्रह्म विद्या रूपी द्रोपदी को वही कहलायेगा वीरवर योद्धा, कृष्ण भक्त अर्जुन।

घनघोर वन में महाराज नहुष अभिशप्त होकर, अजगर बने हुए तपस्या कर रहे हैं। महाराज नहुष कुरूवंश के अत्यधिक प्रतापी राजा थे। महाराज नहुष ने घनघोर तपस्या करते हुए इन्द्रासन पाया था। धरती के मनुष्य ने अपनी श्रेष्ठ तपस्याओं के द्वारा देवलोक के राजा देवेन्द्र का सम्मान पाया। इन्द्रासन की आसक्ति मोह और माया ने तेजस्वी नहुष की चेतना को क्षीण किया। मुनि अगस्त से अभिशप्त होकर नहुष ने इंद्र का पद खोया, मनुष्य के रूप को भी खोता हुआ, अजगर बनकर धरती पर आ गिरा। धरा पर गिरकर नहुष ने घनघोर तप करके ऋषि अगस्त को प्रकट किया। महामुनि अगस्त नहुष के तप से द्रवित हो उठे। उन्होंने प्रकट होकर नहूष को आशीर्वाद दिया और पूछा, 'हे महा तापस नहुष ! मैं तुम्हारे तप से द्रवित हो उठा हूँ। परन्तु मैं तुम्हारा भला नहीं कर सकता। मैं तुम्हें शाप मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए तुम्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश को तप द्वारा आवाहन करना चाहिए।"

'महा मुनि अगस्त ! मैंने शाप मुक्ति के लिए आपका आवाहन नही किया। मैं क्षत्रिय सम्राट रहा हूँ। मैंने भिक्षा रूप में मोक्ष को भी नहीं स्वीकारा है। मैंने आपका आवाहन इसलिए किया है कि आप मेरे संदेहों का निवारण करें। आपने मुझे अभिशप्त क्यों किया ? में मानता हूँ कि आपने मुझे अभिशप्त करके, अन्याय किया है !' नहुष ने महा मुनि अगस्त से कहा।

'कैसा अन्याय, नहुष! तुम मोहासक्त और कामासक्त हो उठे थे। पतिव्रता एवं महा तपस्विनो इन्द्रकी पत्नी के साथ भी तुम काम-पिपासा की कामना कर बैठे थे।

कामान्ध होकर तुमने ऋषियों से पालकी उठवायी तथा उन्हें प्रताड़ित भी किया तथा अपमानित भी किया। तुम मेरे शाप के अधिकारी भी थे। मैंने शाप तुम्हें भिक्षा के रूप में नहीं दिया था। हे नहुष! इस शाप को तुमने एक योद्धा की भांति ही कमाया था।' महामुनि अगस्त ने मुस्करा कर उत्तर दिया।

'महामुनि! मैं कभी आपके शाप का अधिकारी नहीं था। मुझे शाप देना आपके लिए सर्वथा अनुचित था।' नहुष ने कहा!

"सो कैसे?" आश्चर्य से महामुनि अगस्त ने पूछा।

'हे महामुनि! आप जानते हैं कि मेरा नाम नहुष है। "नह" का अर्थ ओढ़ना होता है, और "हुषच्" का अर्थ 'काम' होता है। अतः नहुष शब्द का अर्थ काम को ओढ़कर उत्पन्न होना है। मैं नहुष हूँ महाराज। काम को ओढ़कर ही उत्पन्न होता हूँ मैं। कामासक्त होना तो मेरी स्वाभाविक गति है। इसके लिए आपने मुझे अभिशप्त किया क्यों? आप तो जानते ही हैं कि मेरा नाम नहुष है। काम को ही ओढ़कर उत्पन्न होने वाले जीव के द्वारा, काम से विमुख हो इन्द्रासन को पाना, एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। ऐसी उपलब्धि को प्राप्त हो गया नहुष, मात्र काम के लिए क्यों अभिशप्त हुआ, जबकि वह नहुष था?" नहुष ने पूछा।

नहुष और मुनि अगस्त आपस में भिड़ गये। महामुनि अगस्त तर्क और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते कि उन्होंने नहुष को अभिशप्त करके उचित किया। महाराज नहुष अपने तर्क और प्रमाणों से सिद्ध करते कि उनको अभिशप्त करना अन्याय है। सर्वथा अनुचित है। दोनों ही किसी समाधान पर पहुंच नहीं पा रहे थे। तभी महाऋषि अगस्त ने नहुष से एक प्रश्न पूछा, "हे नहुष! तुम मुझे वह रहस्य बताओ जिसके द्वारा तुमने इन्द्रासन पाया है।"

महाराज नहुष ने अपनी तपस्या और साधना के मार्ग को स्पष्ट करते हुए वेद की इस ऋचा का उच्चरण किया—

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिःसोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥१.९.१.

महाराज! वेद की इस दिव्य वाणी का अनुसरण करके मैंने परछाइयों के विपरीत लक्ष्य को खोज करके, उसका संधान किया। सम्राट होकर भी संसार

के दलदल से नहीं लिपटा। संसार को भ्रमात्मक परछाई जान, केवल कर्तव्य और सेवा का बोध रखते हुए, आत्मा रूपी सत्य की ओर मैं निरन्तर झुकता रहा। ईश्वर की राह में भी परछाइयों के माध्यम से मैंने अन्तरात्मा रूपी सत्य से अद्वैत किया। क्षण-क्षण जला हूँ मैं उसमें। प्रतिक्षण आत्म-ज्वालाओं में स्वयं को सामग्री के समान भस्म करता रहा हूँ। इसीलिए आत्माद्वैत को प्राप्त हुआ और मैंने दुर्लभ इन्द्रासन पाया।"

"तुमने बिल्कुल ठीक कहा है नहुष ! इसीलिए मैंने तुम्हें अभिशप्त किया। जिस वेद की ऋचा से तुमने इन्द्रासन पाया था, तुम वेद की इस ऋचा को भूल गये थे। तुम्हें याद नहीं रहा था कि इन्द्रासन भी तो खेल मत्स्य अंधस्य का ही है; इसलिए नहुष तुम मार्ग से भटक गये थे। मार्ग से भटक जाने के कारण तुम मुझसे अभिशप्त हुए, जो सर्वथा उचित है। हे नहुष ! वेद की इस अमृतमय ऋचा को पुनः जीवन में धारण कर, तुम अनन्त अवस्था को प्राप्त होंगे। जहां से फिर लौटना नहीं होगा। तुम्हारे मन के बाकी तीन संशय हैं, उनका निवारण तुम्हारा ही वंशज बन के धर्मराज स्वयं युधिष्ठिर के रूप में दूर करेगा। तब तुम मोक्ष को प्राप्त हो जाओगे।"

आओ ! हम वेद की इस ऋचा को अपने जीवन में धारण करें। जीवन के प्रति क्षण में इस महान ऋचा को सजा लें। आचरण में, विचारों में, कर्म में, व्यवहार में इस ऋचा को गुनगुनाते हुए आत्मस्थ होते चलें।

एमेनं सृजता सुते मुन्दिमिन्द्राय मुन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये॥९८॥

(अम) कच्चे चावल (एनम्) की भांति (सृजता) सृजन करती हो (सुते) निचोड़े हुए यज्ञ में व्याप्त हुए अन्न को (मन्दिम्) जगमग जीवन रूपी ज्योतियों में (इन्द्राय) हे महान यज्ञ की ज्वाला, हे ब्रह्माग्नि (मन्दिने) हे ज्योतिर्मयी, हे यज्ञ दीप्ति, उत्पन्न किये हुए, जीवन्त किये हुए अन्न को जीवन ज्योतियों में जगमग करने वाली (चक्रिं) आवागमन की परिधियों में (विश्वानि) सचराचर को (चक्रये) घुमाने वाली।

जीवन के चक्र और उनके रहस्य, वेद की इन ऋचाओं में खुलते जा रहे हैं। हमारे ही आवागमन के रहस्य हम पर स्पष्ट हो रहे हैं। कच्चा चावल बन

के भोजन पुनः यज्ञ हुआ, देह रूपी यज्ञशालाओं में। ब्रम्हाग्नि में अर्थात् आत्म-ज्वालाओं में। निचोड़े गये, अर्पित हुए, बन के सांकल्य, अमृतमय जीवन ज्योति-दायिनी ब्रम्ह ज्वाला में जले, यज्ञ हुए, पुनः सृजन हुआ अन्न का, नाना देह धारियों में। जीवन रूपी ज्योतियों से जगमग हो उठे उनके शरीर। पुनः जीवन को शेष कर, धरा पर छितरा गये वे, मृत होकर पुनः प्रकट हुए अन्न में। हे ब्रम्हाग्नि ! तुममें यज्ञ हुआ उनका, फिर वे यथा संतति बन प्रकट हुए। जीवन के चक्र घूमते रहे, निरन्तर गतिमान हैं, घुमते रहेंगे। कुम्हार चाक पर मिट्टी के बर्तन गढ़ता है। हे ब्रम्हाग्नियों ! हे यज्ञ की ज्वाला ! तुम जीवन को आवागमन के चक्रों पर फिर-फिर गढ़ती हो। ये चक्र यूं ही चलते रहे हैं। क्या इस चक्र का भी अन्त है या नहीं ?

मेले में खड़ा हूँ मैं ! गोल घुमते हुए, वृत्ताकार घुमते हुए, घोड़ों को देख रहा हूँ। एक बड़े खम्भे के साथ झूला बंधा हुआ है। घोड़ों पर बालक बैठे हुए हैं। इन सबको लेकर चक्र तेजी से गोल घुम रहा है। वह लड़का जो अभी मेरे ठीक सामने था, अब दूर जा रहा है। कुछ क्षणों के उपरान्त वह लोप हो जाता है। तेजी से दूसरी ओर चला जाता है। अब दृष्टि गोचर नहीं होता। कुछ क्षणों के उपरान्त वह पुनः प्रकट होता हुआ, समीप आने लगता है। चक्र निरन्तर गोल घुम रहा है। कभी लगता है वह समीप है। कभी लगता है वह दूर जा रहा है। कभी लगता है वह लोप हो गया है। पुनः दूर दिखाई पड़ता है तथा तीव्रता से समीप होता चला जाता है। यही तो हमारा जीवन है। मिलते हैं, संग-संग चलते हैं ; बिछड़ने लगते हैं और खो जाते हैं। लगता है अब कभी नहीं मिलेंगे। फिर समीप होने लगते हैं और जुड़ बैठते हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि हमसे न कोई दूर हो और न अधिक समीप हो। सब हमसे समान भाव से बनें रहें ? हो सकता है ऐसा ! यदि हम खम्भ पर ही स्थिर हो जायें तो चक्र कितना भी क्यों न दौड़े, हम सब समान रहेंगे। न कोई दूर होगा और न कोई पास ही। न कोई लोप होगा और न कोई पुनः प्रकट होगा। संत ने कहा भी है :–

चलती चक्की देखके, दिया कबीरा रोय।
दुई पाटन के बीच में, सब गुड़ माटी होय॥

आवागमन की इस चक्की में, उत्तल गुड़ से मिट्टी होते हमारे शरीर। संत की उपरोक्त उक्ति को निरन्तर चरितार्थ करते हैं। परन्तु ऐसा भी तो हो सकता है :–

दुइ पाटन के बीच में, सब नर पीसे जाई ।
जे नर जा कीलो लगें, तिनके भय कुछ नाई ।।

हे सम्पूर्ण सचराचर को आवागमन के चक्र में निरन्तर चलायमान रखने वाली, यज्ञ की ज्वाला ! हमें उसी खम्भ पर स्थान दो । वह खम्भ कौन सा है ? वह खम्भ हमारा अन्तरात्मा ही है । आत्मस्थ होकर, आत्मा रूपी खम्भ पर स्थिर हो गये जो, उन्होंने ही पाये जीवन के अभीष्ट ।

मत्स्वां सुशिप्र मुन्दिभिः स्तोमैभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा ॥१.९.३

(हे छिन्द मस्ता ! हे शुभ मंगल दायिनी ! हे जीवन ज्योति ! यज्ञों के द्वारा सम्पूर्ण सचराचर का भरण-पोषण करने वाली ! यज्ञ के हेतु हमें सवन दो ।)

(मत्स्वा) स्वमस्ता, छिन्द मस्ता, आत्म मस्ता (सुशिप्र) दिव्य मंगलमय, कल्याण को देने वाली (मन्दिभिः) जीवन को जगमग ज्योतियाँ प्रदान करने वाली तथा अमर बनाने वाली (स्तोमेभिः) यज्ञों के द्वारा (विश्वचर्षणे) सम्पूर्ण सचराचर को भरण-पोषण करने वाली तथा सम्पूर्ण सचराचर को सांकल्यवत् ग्रहन करने वाली । (सचैषु) संयुक्त करो (सवनेष्वा) सवन स्नान करने के लिए । यज्ञों की सामग्री को यज्ञ के पूर्ण जल के द्वारा पवित्र करने की प्रक्रिया का नाम सवन है । विवाह से पूर्व वर के जल से वधू को नहलाने की प्रक्रिया का नाम सवन है । चिता की अग्नियों से पूर्व शव को स्नान करने की प्रक्रिया का नाम सवन है ।

हे आत्म मस्ता ! आत्मा में ही मस्त रहने वाली ! हे ब्रम्ह ज्वाला ! हे शुभत्व और मंगल को सचराचर को प्रदान करने वाली आदि शक्ति ! जड़त्व को जीवन ज्योतियों से परिपूर्ण करने वाली हे मस्ता ! सम्पूर्ण सचराचर को यज्ञों के द्वारा भक्षण, ग्रहण, उत्पत्ति और भरण-पोषण करने वाली हे ब्रम्हाग्नि ! हमें भी सामग्री-वत् यज्ञ के हेतु ग्रहण करो । यज्ञ से पूर्व कराये जाने वाले सवन स्नान से संयुक्त करो । हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण तथा शरीर के रोम-रोम, सवन के द्वारा पवित्र हों । सवन स्नान से पवित्र होकर हम तुम्हारे द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य बन सके । तुम्हारी ज्योतिर्मय ज्वालाओं में यज्ञ हों । तुम्हारे द्वारा पुनः धारण, उत्पत्ति, उद्धार एवं अमरत्व को प्राप्त हों । हे मां ! हम सवन के अधिकारी हों । हमें सवन से संयुक्त करें ।

हे मां ! आप ही तो छिन्द मस्ता देवी हैं। देवी छिन्द मस्ता आप, अपना ही सिर काट कर अपने हाथ में लेती और कटी गर्दन ने उभरते रक्त की धाराओं को पी कर मस्त होती हो। आप ही तो स्व–मस्ता हो। आप ही तो छिन्द मस्ता हो। हे ब्रम्हाग्नि ! आप इस मस्ती का हमें भी पान कराओ। पीकर अपनी ज्योतियों को तुम्हारे यज्ञों के संयोग से हम अमरत्व पाये। छिन्द मस्ता की अनन्य मस्ती को प्राप्त हो जायें।

असृंग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदंहासत। अजोंषा वृषभं पतिम् ॥ १.९.४

(होता है विनाश विष का, जो आता है जिह्वा पर तुम्हारी, पाते सब मोद, मंगल और आनन्द। अहर्निश कथा तुम्हारी !

(अ) रहित हुआ (सृ) उत्पत्ति से (ग्रम्) विष (इन्द्र) हे महान (ते) तेरे (गिरः) जिह्वा पर आया (प्रति) प्रति उत्तर में (त्वाम) तुमने (उदहासत) मोद, मंगल और आनन्द दिया। (अजोषा) अमर नित्य हुई कथा तुम्हारी। (वृषभं पतिम्) बृषभ पति महाशिव की भांति।

उत्पत्ति से रहित होता है विष ! जिस विष का प्रति क्षण आप पान करती हो। हे यज्ञाग्नि ! तुम्हीं तो पतित पावन हो। त्याज्य पतन को, दुर्गन्ध को, पौधों के गर्भ में यज्ञों के द्वारा पावन वनस्पतियों को प्राप्त कराती हो। दुर्गन्ध को सुगन्ध बनाती हो। पतन, पावन हो जाता है, तुम्हारी कृपा से। निरन्तर, प्रति क्षण, हर ओर चलते इन यज्ञों के कारण ही तो सचराचर मोद, मंगल आनन्द और तृप्ति पाता है। यदि तुम त्याज्य विष को पुनः अमृत न बनाती, तो पेट किसका भरता ? संतति कैसे प्राप्त होती ? महाशिव की भांति विष-पान करने वाली हे यज्ञाग्नि ! हे ब्रम्ह ज्वाला ! हमें उस नित्य प्रभात के दर्शन कराओ। जिस प्रकार महाशिव ने स्वयं विष पान किया तथा देवताओं को अमृत प्रदान किया। हे महां! महाशिव की भांति ही आपने हमारे विषों को अमृत में लौटाया है। हमारे सम्पूर्ण विषों को ग्रहण करके, हमें अपनी ज्योतियों से युक्त करो। हमें अमृत की ओर ले चलो।

क्षीरसागर का मंथन चल रहा है। नागराज बने हैं रस्सी। पर्वतराज बने है मथानी, महाविष्णु कछुये का अवतार धारण कर, विशाल पर्वत को अपनी पीठ पर

उठाये हुए हैं। महाविष्णु स्वयं चतुर्भुज स्वरूप धारण कर पर्वत के मस्तक पर भी विराजे हैं। मन्थन चल रहा है। जिस ओर असुर थे उस ओर नाग का मुंह है तथा जिस ओर देवता हैं उस ओर नाग की पूंछ है। मंथन निरन्तर हैं।

हम सब मथ रहे हैं अपने अन्तर को ! समय ही नाग है। शरीर ही मथानी है तथा देवत्व के विचार देवता तथा असुरत्व में भटकते हमारे भ्रमात्मक विचार ही असुर हैं। हम सब मथते अपने जीवन के क्षीरसागर को। महाशिव हमारे साथ हैं। वे ही हमारे संरक्षक हैं, सहायक एवं भर्तार हैं। मन्थन से प्रकट हुआ विष। उसे कौन पियेगा? न तो देवता पियेंगे और न दानव ही। एक ही समर्थ हैं, महाशिव! महाशिव ही जो प्रलय की अग्नि का स्वरूप हैं, हमारे हर विष को स्वयं पीकर मोद, मंगल और आनन्द को लुटाते हैं। महाप्रलय की अग्नि ही महाशिव का स्वरूप है। निरन्तर विष पान करती है तभी तो सचराचर जीवन्त होता है।

विष के उपरान्त निकलता है अमृत, उसे कौन पियेगा ? देवत्व के विचार रूपी देवता अथवा भ्रमात्मक सांसारिकता में लुप्त असुरत्व रूपी असुर ? यह निर्णय हम सबको करना है। यदि असुर अमृत पी जायेंगे तो भौतिकता पुष्ट होंगी। तुम स्वयं मर जाओगे। यदि अमृत देवत्व रूपी विचारों को अर्थात देवता को मिल गया तो वे सद्विचार तुम्हें अमरत्व देंगे। तुम नित्य अवस्था को प्राप्त हो जाओगे। प्रलय के देवता अर्थात महाशिव सब के हित में विष पान करते रहे हैं, करते रहेंगे। अमृत कौन पिये, इसका निर्णय हम सब को करना है। हम सबको महाशिव की भांति करना है।

सूर्य कहते हैं आत्मा को। हमारे मन का ही दूसरा नाम चन्द्रमा अर्थात इन्द्र है। राहू कहते विषयान्धता को तथा केतू मिथ्याभिमान एवं दम्भ को। यदि अमृत पीकर अमर हो गया राहू और केतू, तो आत्मा और मन पर ग्रहण लग जायेगा। हम कभी अपने सत्य के समीप न हो पायेंगे। क्षीरसागर मन्थन निरन्तर है। निर्णय हम सब को करना है। केतू रूपी मिथ्याभिमान और दम्भ, आत्मा के स्वरूप को ग्रहण लगाकर, हमें आत्म-सुख से विमुख कर देता है। राहू रूपी मोहासक्ति और विषयान्धता, हमारे मन को विषाक्त कर देती है। तब न तो हम आत्मस्थ ज्ञान पाते हैं और न ही निर्मल मन की भक्ति और शांति ही। राहू और केतू हमें निरन्तर आवागमन के चक्रों में भटकाते चले जाते हैं।

हे विष का पान करने वाली महा ज्वाला ! हे महाशिव स्वरूप प्रलय अग्नि ! हमें ज्योतियों के अमृत का पान कराओ । सूर्य से नित्य अवस्था एवं ज्योतियां और ओज प्रदान करो । चन्द्रमा सा निर्मल, शांत, सुखद, अमृतमय, नित्य अवस्था को प्रदान करो । हे विष का पान करने वाली ! हमारे जीवन के विष, राहू और केतू का भी संहार करो ।

सं चोदय चित्रमर्वाग्राधं इन्द्र वरेण्यम् । असदित्तें विभु प्रभु ॥१.९.५.

(असत्य यों विभु होता है और विभु, प्रभु हो जाता है । जलती है प्रकृति जब ज्योतिर्मय होकर, महान यज्ञ की ज्वाला में ।)

(सं) संयुक्त होकर (चोदय) यज्ञ होता है, प्रकाशित होता है (चित्रम) प्रकृति के स्वरूप (अर्वाग्राध) महान ज्योतियों (इन्द्र) ब्रम्ह ज्वाला (वरेण्यम्) ग्रहण किए जाते हैं, वरण होते हैं (असत) मृत, जड़ (इतेते) इस प्रकार (विभुः) विशिष्ट उत्पत्ति को प्राप्त हो (प्रभु) उत्पत्ति के ज्ञान को धारण कर परमेश्वर स्वरूप हो ।

हे महान यज्ञ की ज्वाला ! हे ब्रम्हाग्नि ! जड़ प्रकृति भी जब तुम्हारी ज्योतियों से संयुक्त होकर पुनः रूप पाती है तो असत्य से अर्थात मृत्यु से विशिष्ट उत्पत्ति को प्राप्त होती है । अर्थात चैतन्य जीवन को प्राप्त हो जाती है । चैतन्य जीवन को प्राप्त हो गये प्रकृति के पुत्र, हम लोग, जब स्वयं को तुम्हारी ही ज्वालाओं में, तुम्हारी ही ज्योतियों में संयुक्त होकर, पुनः यज्ञ करते हैं तब स्वयं को तुममें अर्पित कर यज्ञ हो जाते हैं ! तुम्हारे द्वारा वरद होते हैं । विशिष्ट उत्पत्ति अर्थात जीवन स्वरूप से ऊपर उठते हुए, जीवन को उत्पन्न करने वाले ब्रम्ह ज्ञान से परिपूर्ण हों, देवत्व को प्राप्त हो जाते हैं । अर्थात प्रभु हो जाते हैं । मिट्टी के कण उत्पत्ति को प्राप्त हो, देवत्व का सम्मान पाते हैं ।

हे यज्ञाग्नि ! हम सबको, हमारे स्वरूपों को (चित्रम्) पुनः अपने यज्ञ की महान रश्मियों से संयुक्त कर, हमें ग्रहण करो, हमें यज्ञ करो । विभु से प्रभु बनाओ । प्रकृति का मनुष्य रूप में आना, यज्ञ की ब्रह्माग्नि से संयुक्त कर हमें निमित्त से कर्ता का वरद स्थान पाना, आपके द्वारा ही संभव है । हमें वरद करो । देव ज्ञान से युक्त करो ।

अस्मान्सु तत्रं चोदयेन्द्रं राये रभंस्वतः। तुविंद्युम्न यशांस्वतः॥१.६६.

(हमें शीघ्रता से ले चलो वहां! आत्मा रूपी यज्ञकुण्ड प्रज्वलित हो जहां! अमर ज्योतियों में यज्ञ यशस्वी होता जहां।)

(अस्मान्) हम को (अस्मान्त) अग्नि कुण्ड (सु) अलौकिक (तत्र) वहां (चोदय) उत्तेजित करो, सजीव करो, प्रकाशित करो, यज्ञ करो (इन्द्र) ब्रह्माग्नि (राये) शीघ्रता से (रभस्वतः) यज्ञ आदि का आरम्भ, आहुति, वेग, शक्ति (तु) तथा (विद्युम्न) विशिष्ट ज्योतियां (यशस्वतः) यशस्वी होना।

हे महान यज्ञ की ज्वाला! हे परम ज्योतिर्मय आत्मा रूपी यज्ञ कुण्ड! हमें आहूतियों के समान ग्रहण करो। प्रलय की महा अग्नियों को प्रज्वलित करो। हमें यज्ञ करते हुए अपनी विशिष्ट ज्योतियों तथा यशस्वो स्वरुप को प्रदान करें। हम सर्मपित हैं आपको।

हे महान ज्योतिर्मय! हम स्वयं को प्रेरित करें। स्वयं को प्रेरित करके ले चलें वहां, आत्मा रूपी यज्ञ प्रतिक्षण प्रज्दलित हो जहां। अद्वैत कर यज्ञ की ज्वालाओं से सर्मपित हो यज्ञ को। यज्ञ की ही ज्योतियों और यश को प्राप्त हों। जीवन के अभीष्ट को प्राप्त हों।

सं गोमंदिन्द्र वाजंवदस्मे पृथु श्रवों बृहत्। विश्वायुंर्धेह्यक्षितम्॥१.६७.

(हे ज्योतिर्मय यज्ञ! सामग्री को भस्म करने वाली! हे अग्नियों! हे शिव! हे विष्णु! हे सूर्य! उत्पत्ति को व्यापक और निरन्तर करने वाले! क्षण-भंगुर हम जीवों को यज्ञ के द्वारा अक्षय स्वरूप प्रदान करो!)

(सम) संयुक्त (गोमद्) ज्योतिर्मय (इन्द्र) महान यज्ञ (वाजवदस्मे) सामग्री का विनाश करने वाले, सांकल्य को भस्म करने वाले (पृथु) अग्नि, शिव, विष्णु, सूर्य (श्रवो) उत्पत्ति कीर्ति (वृहत्) अत्यधिक, व्यापक (विश्वायु) पूर्ण आयु (धेहि) प्रदान कीजिए (अक्षितम्) अविनाशी, अमर, जो कभी क्षय न हो।

हे ज्योतियों से संयुक्त महान इन्द्र! हे यज्ञ! हे सचराचर को सामग्रीवत् भस्म करनै वाले! हे अग्नि! हे शिव! विष्णु और सूर्य के स्वरूप! सम्पूर्ण सचराचर

को उत्पत्ति और शक्ति से युक्त करने वाले हे यज्ञ! हमारी आयु को पूर्णतः से ग्रहण कर, अपनी ज्योतियों से संयुक्त करो, यज्ञ कर, अक्षय स्वरूप प्रदान करो।

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम् | इन्द्र ता रथिनीरिषः || १.६.८

(हमें धारण कराओ सृष्टा की महान ज्योतियां, अनन्त सुख। हे इन्द्र! हे जीव को शक्ति देने वाले।)

(अस्मे) हम को [धेहि] धारण कराओ, प्रदान करो [श्रेवा] उत्पत्ति, कीर्ति [बृहद] महान [द्युम्नं] ज्योतियां, दीप्तियां [सहस्त्रसातमम्] असंख्य और असीम आनन्द [इन्द्र] महान यज्ञ [ता] आप [रथिनी] जीव मात्र [ईषः] शक्ति प्रदान करने वाले, परिपूर्ण करने वाले।

हे आत्मा! हे यज्ञ! हे प्रदीप्त! हम को धारण कराओ। उत्पत्ति यश और कीर्ति से संयुक्त महान ज्योतिर्मय स्वरूप तथा दिव्य अलौकिक असंख्य असीम सुखों को देने वाला, अमर स्वरूप। हे आत्मा आप हो जीव मात्र को परिपूर्ण करने वाले हैं। आप ही हमारे सर्वस्व हैं।

वसोरिन्द्रं वसुंपतिं गीर्भिर्गृणन्तं ऋग्मियंम् | होम गन्तारमूतयें || १.६.६

[ब्रम्हाग्नियों में वास करने वाले! हे सूर्यों के अधिपति। अमर दिव्य चक्षु को देने वाले, हे देवगुरू! हे महान आत्म ज्योति! यज्ञ के द्वारा जीव मात्र को मोक्ष की ओर ले जाने वाले, हे इन्द्र! प्रज्वलित हो]

[वसोरिन्द्र] ब्रम्हाग्नियों में वास करने वाले [वसपति] सूर्यो के अधिपति [गीर्भि] अमर चक्षु को देने वाले [गृणन्त] ग्रहण कराने वाले देवगुरू बृहस्पति [ऋग्मियम्] आत्म ज्योति [होम] यज्ञ (गन्तारम्) मोक्ष की ओर ले जाने वाले [उतये] दीप्तियों के पुंज।

हे ब्रम्हाग्नियों में वास करने वाले इन्द्र! हे पशुपति! हे सूर्यों के महा सूर्य! यज्ञ की ज्वाला में प्रज्वलित हो! हे दिव्य चक्षु को देने वाले, देवों के पूज्य गुरू बृहस्पति! तुम प्रकट हो जाओ। आत्म ज्योतियों की दीप्तियों से हमें, यज्ञ करते हुए, ज्योति बना कर मोक्ष की ओर ले चलो, हमारा यज्ञ करो, हमें राह दो।

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः। इन्द्राय शूषमर्चति ॥१.९.१०.

(हे देवाधिदेव ! हमें निचोड़कर पुनः उत्पन्न करो ! हे महानों के महान । समिधा एवं सांकल्य का नाश करने वाले, हे इन्द्र ! हम पुनर्उत्पत्ति हेतु आपकी अर्चना करते हैं ।)

(सुते) निचोड़ा हुआ (सुते) उत्पन्न किये हुए (न्योकसे) दिव्य धाम में रहने वाले, परमेश्वर (बृहद् बृहत्) अत्यधिक सर्वव्यापी (एदरिः) समिधा एवं सांकल्य का नाश करने वाले अर्थात जलाने वाले, अग्नि देव (इन्द्राय) महान यज्ञ के लिए, यज्ञ होने के लिए [शूषम्] उत्पन्न कर [अर्चति] प्रार्थना करता हूँ ।

हमें यज्ञ करो हमें सांकल्य की भांति यज्ञ में निचोड़ो । हे समिधा एवं सांकल्य का नाश करने वाले ! हे पशुपति ! हे महानों के महान ! हम यज्ञ होकर तुम्हारे द्वारा, यज्ञ में पुनः उत्पन्न होने की प्रार्थनाओं को लेकर, तुम्हें समर्पित हुए हैं। हे ज्योतिर्मय ! ब्रह्माग्नियों में प्रकट हो जाओ । हमें ग्रहण करो। यज्ञ व सांकल्य की भांति हमारा विनाश करो ! हमें यज्ञ करो ! हम ब्रम्हाग्नियों से पुनः उत्पत्ति को प्राप्त होकर, अतिशय कल्याण को प्राप्त हों ।

नारायण हरि !

नवम् सूक्त समाप्त

मधुच्छन्दा

वेद के बहुत से भाष्यकारों का तथा वेद के वैज्ञानिकों का मत है कि मधुच्छन्दा ऋषि वैदिक ऋषियों की परम्परा के उपरांत ऋषियों में आते हैं, जबकि चारों वेदों के प्रथम वेद, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम ऋषि के रूप में दर्शाये गये हैं। इस विषय को लेकर बहुत से मतभेद हैं। वैदिक मान्यता के अनुसार भगवान वेदव्यास ने ऋषियों का आवाहन किया। यज्ञ से प्रगट ऋषियों की वाणी ने यथा वेदों का गान किया, जिन्हें भगवान विनायक ने लिपिबद्ध किया। अन्य ऋषियों के विषय में सम्भवतः इतने मतभेद नहीं हैं। मधुच्छन्दा ऋषि के विषय में ; पौराणिक कथाओं में तथा पर्वतों पर विद्यमान ऋषि परम्पराओं के कुलों में, दूसरी कथा भी आती है। उनके मतानुसार भगवान वेदव्यास, श्रीकृष्ण द्वैपायन, अपने आराध्य मथुराधीश भगवान श्रीकृष्ण के साथ मधुच्छन्दा ऋषि के पावन आश्रम में पधारे थे। मधुच्छन्दा ने यह सूक्त उत्तरायणी गंगा के तट पर, यज्ञ की ज्वाला के सन्मुख गाये तथा दशम् सूक्त गाते हुए वे ज्योति स्वरूप प्रकट हो गये। इस प्रकार इस सूक्त को जेता माधुच्छन्दस समूह ने लिपिबद्ध किया था। ग्यारहवें सूक्त में उन्होंने मधुच्छन्दा की स्तुति की।

पौराणिक कथा कुछ इस प्रकार है -

सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र को सन्तान सुख नहीं था। तपस्या तथा तापस ऋषियों के आशीर्वाद के रूप में, परमेश्वर उन्हें सन्तान देने को राजी हो गये। उसमें एक शर्त रखी गयी। महाराज हरिश्चन्द्र अपने पुत्र को यज्ञ पशु बनावेंगे। इसी संकल्प के साथ वे संतति से वरद हुए। संतति के रूप में उन्हें रोहिताश्व नामक पुत्र

की प्राप्ति हुयी । रोहिताश्व शब्द का अर्थ होता है, आत्मा में आरोहण करने वाला अर्थात आत्मा की ओर जाने वाला । यज्ञ पशु का अर्थ कालान्तर में भाष्यकारों ने दुर्भाग्यवश, पशु बलि के रूप में ग्रहण किया । यह नितान्त असत्य है । भगवान पशुपतिनाथ अर्थात पशुपताग्नियों के देवता की प्रलय अग्नियों के साथ अद्वैत कर ज्योति स्वरूप प्रकट होने की अवस्था का नाम यज्ञ पशु है । जिसे रोहिताश्व के स्थान पर मधुच्छन्दा ने संकल्प रूप ग्रहण किया । ऋषि पुत्र मधुच्छन्दा ने महाराज हरिश्चन्द्र की भावनाओं का आदर करते हुए, रोहिताश्व के स्थान पर स्वयं को समर्पित किया । मधुच्छन्दा जो पशुपताग्नियों के स्पष्ट ज्ञान को अल्पकाल में ही पा गये थे । वे यज्ञ पशु बनने को तत्पर हो गये । इसी प्रकार रोहिताश्व यज्ञ पशु होने से बच गये ।

यज्ञ की वेदियां सजायी गयीं । पवित्र होकर ब्रम्ह ज्वाला अर्थात पशुपताग्नियों में मनसा–वाचा–कर्मणा व्याप्त होकर मधुच्छन्दा यज्ञ स्थान पर पधारे । यज्ञ पशु का स्थान लेने के लिए उन्होंने विधिवत् संकल्प लेने के लिए पात्र को हाथ में लिया । तभी वहां पर विश्वामित्र ऋषि पधारे । उन्होंने मधुच्छन्दा से प्रार्थना की कि वे ऐसा कदापि न करें । विश्वामित्र की इच्छा का सम्मान करते हुए मधुच्छन्दा रूक गये । ब्रम्हर्षि विश्वामित्र ने मधुच्छन्दा से प्रार्थना की, "हे परम् पुनीत मधुच्छन्दा ! यज्ञ के, पशुपताग्नियों के तथा अमृत्व के रहस्यों को स्वयं में लपेटे हुए आप पशुपताग्नियों का वरण अभी न करें । ऐसा करने से यह अनुपम ज्ञान और मार्ग, सदा-सदा के लिए लोप हो जायेगा । मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे जेष्ठ पुत्र का स्थान लें । मेरे पुत्र, आपको अग्रज और गुरू के रूप में ग्रहण करें । वे आपके द्वारा इस अनुपम ज्ञान को प्राप्त हो । उसके उपरान्त ही आप यज्ञ पशु का अनुपम पद ग्रहण करें ।"

ब्रम्ह ऋषि विश्वामित्र की इच्छा को पुनीत मधुच्छन्दा ने शिरोधार्य किया । उन्होंने यज्ञ पशु के स्थान को त्याग दिया । वे इस बात पर तैयार हो गये कि विश्वामित्र के पुत्रों को, इस ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण पारंगत करने के उपरान्त ही पशुपताग्नियों का वरण करेगें । विश्वामित्र ने अपने सौ पुत्रों को बुलाया । वे सभी महर्षि मधुच्छन्दा ऋषि के आश्रम में पधारे । विश्वामित्र के पुत्र ब्रम्हनिष्ठ तपस्वी तथा परम् ज्ञानी थे । ज्ञान विज्ञान तथा तप सिद्धियों में वे भी विश्वविख्यात

थे। ब्रम्हर्षि विश्वामित्र ने उनसे मधुच्छन्दा को अपना अग्रज तथा गुरू रूप में ग्रहण करने का आदेश दिया। पचास पुत्रों ने अपने पिता की आज्ञा की अवहेलना, दम्भवश की। वे अपने से बड़ा विद्वान, ज्ञानी, तापस और विज्ञानी मधुच्छन्दा को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने पिता के आदेश की उपेक्षा की। क्रोधित होकर ब्रम्हर्षि विश्वामित्र ने अपने पचास पुत्रों को शापित कर दिया। वे अभिशप्त होकर मलेच्छ हो गये। समय के अन्तरालों में वे सदा-सदा के लिए विस्मृत हो गये। शेष पचास पुत्रों ने मधुच्छन्दा ऋषि को अपना गुरू, आराध्य एवं अग्रज स्वीकार किया। उन्होंने भक्ति पूर्वक श्रद्धा एवं समर्पण के भाव से, मधुच्छन्दा ऋषि का वरण किया। वे पचास पुत्र जेता माधुच्छन्दस कहलाये। ब्रम्ह ज्ञानी, पशुपताग्नियों का वरण करने वाले मधुच्छन्दा, उन्हें इसी सत्य मार्ग में पारंगत करने के लिए रुक गये।

एक लम्बे अन्तराल के उपरान्त ऋषि मधुच्छन्दा, माधुच्छन्दस ऋषि समूह के साथ अपने पुनीत आश्रम में शोभायमान हो रहे थे। माधुच्छन्दस ब्रम्ह ज्वाला के, पशुपताग्नियों के ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण पारंगत हो चुके थे। मधुच्छन्दा भी अपने पूर्व संकल्प को पूरा करने के लिए यज्ञ पशु बनने को तत्पर थे। ऐसे समय में भगवान श्रीकृष्ण एवं भगवान वेदव्यास मधुच्छन्दा की कुटिया में पधारे। वेदव्यास ने उनसे यज्ञ एवं पशुपताग्नियों के रहस्य को जानने की प्रार्थना की। जिसे उन्होंने तत्क्षण स्वीकार कर लिया। महर्षि मधुच्छन्दा उत्तरायणी गंगा के तट पर पधारे। यह स्थान आधुनिक काल में अलमोड़ा जिले में, अलमोड़ा शहर से लगभग ४५ किलो-मीटर दूर, जागेश्वर के नाम से जाना जाता है। आज भी वहां पर सुन्दर दारूक वन है। उत्तरायणी गंगा के किनारे पर यह पुनीत स्थल यथा विद्यमान है। आज भी वहां की परम्परा में शवदाह स्थल, दो भागों में विभक्त होता है। इसके दो भागों को उत्तरायण और दक्षिणायण ही कहते हैं। दक्षिण भाग में पितृयान से लोग गमन करते हैं। चिता की लकड़ियों को ही पितृयान कहा गया है। चिता द्वारा गमन करते जीव को पितृयान से गमन करता हुआ माना गया है। वे पेड़ जिनके फलों से यह शरीर बना है। वे वृक्ष ही तो इस शरीर के पितृ हैं। पितृयान से गया हुआ व्यक्ति आवागमन को प्राप्त होता है। उसकी संतति अर्थात पुत्र ही यज्ञ का यजमान बन, उसके शरीर को सामग्रीवत् चिता की अग्नि को अर्पित करते हैं। कपालक्रिया द्वारा जीव को सामग्री अर्थात देह से अलग करते हैं। अलग किया

हुआ जीव, दसवां पर्यन्त अपनी सन्तान की देह में वास करता है, प्रेत बनकर। तेरहीं पर्यन्त ही वह पुत्र के शरीर को त्याग कर यथा योनि गमन करता है। शवदाह स्थल के दक्षिण भाग में चिता जलायी जाती है। इस स्थल का देवता, काल भैरव माना गया है। आज भी वहां पर यह परम्परा है कि यदि कोई भी शव जलने के लिए नहीं आयेगा तो एक कम्बल को चिता पर जला कर, काल भैरव को प्रसाद चढ़ाया जायेगा।

शवदाह स्थल के उत्तर भाग को उत्तरायण कहते हैं। उत्तरायण भाग के अधिष्ठित देव स्वयं परमेश्वर हैं। उत्तरायण भाग में यज्ञ की वेदी पर यज्ञ का गान करते हुए, यज्ञ की ज्वालाओं को, योगी साधना के द्वारा अन्तर्ज्वाला में परिणित करते हुए, आत्माग्नियों अर्थात पशुपताग्नियों में अर्थात अपने ही अन्तर की अग्नियों में, स्वयं यज्ञ होकर, ब्रम्हाण्ड से ज्योति बन कर प्रकट होते हुए, योगी को उत्तरायण कहा जाता है। इस मार्ग के यान को देवयान अर्थात आत्मयान कहते हैं। इस मार्ग से गमन कर गये योगी की आवागमन की गति नहीं होती है। वह ब्रम्ह स्वरूप हो जाता है। अर्थात मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जब तपस्वी ब्रम्हाण्ड से स्वत: ज्योति बन कर प्रकट हो जाता है, उसके पार्थिव शरीर को उत्तरायण में समाधि दी जाती है तथा उसकी समाधि के ऊपर शिवलिंग को ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थापित करने की परम्परा है। इस स्थान की मान्यता के अनुसार शिवलिंग योनि और लिंग का प्रतीक न होकर, ब्रम्हाण्ड को फाड़कर प्रकट होती हुई पशुपताग्नियों का स्वरूप माना गया है। अरघा खुले हुए ब्रम्हाण्ड का प्रतीक है। तथा लिंग, लिंगाकार प्रकट होती पशुपताग्नियों का स्वरूप है। वैदिक मान्यता में महाशिव प्रलय के देवता हैं, मोक्ष को देने वाले अकेले परमेश्वर हैं। वे मृत्यु भी हैं और मृत्युंजय भी हैं। यमराज को उन्हीं का अंशावतार माना गया है। वे भूत आदि नाना गणों के अधिष्ठित देव हैं। उत्पत्ति का अधिकार महा-विष्णु को दिया गया है। इस प्रकार उत्पत्ति से जुड़े हुए अंगों का प्रदर्शन, उत्पत्ति के देवता के साथ होना तो स्वाभाविक है, परन्तु प्रलयंकर रूद्र के साथ ये भाव किस प्रकार जुड़ गये ? पौराणिक काल में स्पष्ट नहीं है।

आज भी पर्वतों पर, समाधिस्थ होकर प्रकट हो गये योगी के शरीर को, समाधि देने के उपरान्त, समाधि स्थल पर शिवलिंग लगाने की परम्परा का चलन

देखने में आता है। जब भी कोई सन्यासी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ब्रम्हाण्ड से गमन, नहीं भी कर पाता है। उसके मस्तक को कपालक्रिया द्वारा खोलने के उपरान्त ही उसे जल समाधि अथवा भूमि समाधि दे दी जाती है। इस परम्परा का चलन आज भी सनातन धर्म से जुड़े सम्प्रदायों के संन्यासियों और ऋषियों में देखने में आता है।

महाशिव चूँकि प्रलय के देवता हैं। मृत्यु और मृत्युजंय कहलाते हैं। इस लिए उनके हाथ में तीन शूल का त्रिशूल दर्शाया गया है। मृत्यु, माया में ही सम्भव है। इसीलिए धरती की माया "गुरूत्वाकर्षण" के बीच ही उनका स्थान कैलाश पर्वत पर बनाया गया है। विष्णु, चूंकि उत्पत्ति के देवता हैं। उत्पत्ति क्षीरसागर अर्थात माया रहित क्षेत्र में ही सम्भव हैं, इसलिए उनका स्थान क्षीरसागर में अर्थात गगन में बनाया गया है। ग्रहों, नक्षत्रों तथा ब्रम्हाण्डों के क्षीरसागर में निरन्तर परिक्रमाओं से विचरण करते हुए स्वरूप को ही सुदर्शन चक्र के रूप में उनकी अंगुली में दर्शाया गया है। इसीलिए गंगा भी उनके पैर के अंगूठे से अर्थात क्षीर-सागर के कोने से जब धरा पर उतरती है, तो चन्द्रमा और पृथ्वी की मायाओं को संतुलित करते हुए कैलाशपर्वत पर महाशिव की जटाओं पर उतरती है। जिनके मस्तक पर चन्द्रमा विराजमान है। ब्रम्हा, चूंकि बिन्दुओं (एटम्स्) के सृष्टा हैं, इसलिए उनका स्थान सर्वत्र माना गया है। पुनः यदि हम विचार करें, ब्रम्हाजी ज्ञान के देवता हैं, इसलिए वे चतुर्मुख हैं। चतुर सयाने को भी कहते हैं। ज्ञानी की महिमा मुख के द्वारा प्रवाहित होती है। सरस्वती जी वाणी की देवी हैं। विष्णु जी, चूंकि सृजन के देवता हैं, इसलिए चतुर्भुज हैं। सृजन कार्य हाथों से ही होना सम्भव है। खिलौने हाथ से ही बनाये जाते हैं। महाशिव, चूँकि प्रलय के देवता हैं पंचमुख हैं। देह को पंच तत्वों में अलग कर, विलीन करने वाले, पंचानन। इस प्रकार पौराणिक मान्यताओं से भी स्पष्ट है कि देवताओं की कल्पनाओं के साथ उनके कृतत्व को भी यथा प्रतीकों के द्वारा ग्रहण किया गया है। समयांतर में, महाभारत काल के उपरान्त तथा विदेशी दासता के काल में, भारत की समार्त (स्मृतियों को मानने वाली) संस्कृति नाना सम्प्रदायों में विखंडित होती चली गयी। प्रत्येक सम्प्रदाय प्राचीन मान्यताओं को नकारता हुआ अपने ही आराध्य को सर्व-श्रेष्ठ घोषित करने तथा ऊँचे से ऊँचा प्रभाव दर्शाने में लग गया। जिसके कारण

जीवन के समीकरण का अनुमानित मूल्य पूरी तरह से भ्रमित हो गया। इसे भी स्पष्ट करना चाहूँगा। किसी भी गणित को स्पष्ट करने के लिए एक समीकरण जरूरी होता है। समीकरण से पूर्व एक अनुमानित मूल्य की आवश्यकता होती है। जैसे:–य=इतने–इतने ¨ ।

वेद का ऋषि भी जब स्वयं को खोजने चला तो उसने भी जीवन के एक अनुमानित मूल्य की कल्पना की। जीवन क्या है ? उत्पत्ति क्या है? मृत्यु क्या है ? प्रकृति क्या है ?इन सबको संचालन करने वाला कौन है?उसने एक अनुमानित मूल्य, सृष्टि के बीज के रूप में ग्रहण किया, "ॐ" । य=ॐ । ॐ=अ+उ+म् ।

अ= अस्तित्व, तत्व धारक, ब्रम्हा–सरस्वती।

उ= उत्पत्ति, सृजन, सृजक, विष्णु–लक्ष्मी।

म्= मृत्यु मृत्युंजय, महेश–आदिज्वाला, दुर्गा, पार्वती।

इसी समीकरण को ऋग्वेद के आरम्भ की प्रथम ऋचा में हमने ग्रहण किया है। इससे भी स्पष्ट है कि पौराणिक काल में अज्ञान वश अथवा साम्प्रदायिक संकीर्णताओं के वशीभूत होकर हमने वैदिक मान्यताओं का मूल स्वरूप भ्रमित किया।

भगवान श्रीकृष्ण को पाकर ऋषि मधुच्छन्दा धन्य हो गये। उन्होंने वासुदेव को उत्तरायणी गंगा के तट पर, यज्ञ के सन्मुख, अधिष्ठित देव के रूप में वरण किया। पुलकित होकर, यज्ञ पशु का उन्होंने संकल्प लिया। देवों का आवाहन हुआ, यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। थिर गम्भीर गूंजती वाणी, समाधिस्थ मधुच्छन्दा की, भीतर बाहर उनका शरीर ज्वाला मय हो उठा। दिशायें मधुच्छन्दा की आत्म ज्वालाओं से प्रकाशित हो उठीं। दहकती हुई ब्रम्ह-ज्वाला में, लिंगाकार ज्योतियों का स्वरूप ग्रहण करता, मधुच्छन्दा, यज्ञ और कृष्ण की स्तुति गाता, अनन्त ज्योति को प्राप्त हो गया। सचराचर को यज्ञ, उत्पत्ति, धारण, सृजन, पशुरताग्नियों तथा देवयान से गमन के अनुपम रहस्यों को खोलता चला गया। जागेश्वर में प्रवेश करते ही बांए हाथ पर शिवलिंग के क्रमों से, एक तीसरा, छोटा सा, उपेक्षित शिवलिंग उसी मधुच्छन्दा का है। जिसे वहाँ के लोग भी भूल चुके हैं। इस शिवलिंग के नीचे ऋग्वेद के प्रथम ऋषि का पार्थिव शरीर है। पार्थिव का शेष है। अपने स्वरूप के व्यापक भाग को तो वह ज्योति बना कर ले ही गया था। पर्वतों के ऊपर इधर-उधर,

चहुँ ओर छितराये पत्थरों के शिवलिंग, इस परम्परा की कथा को आज भी दोहरा रहे हैं। जिसे लोग और समाज भूल चुका है। आज जंगल में फैले हुए सैकड़ों शिव-लिंगों का कोई भी वारिस नहीं है। वे यूँ ही छितराये हुए हैं। ये वे ही शिवलिंग हैं जो कभी ज्योतिर्मय तपस्वियों की समाधि पर शोभायमान होते थे। आज वे शिवलिंग सरकार और समाज से उपेक्षित हैं। यह अत्याधिक दुखद है।

हमें धर्म ग्रन्थ को भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। वैदिक परम्परा के अनुरूप एक ही धर्म ग्रन्थ है, जिसे आदि काल से सनातन धर्म में धर्म ग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली है।

"पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यते !"

प्रकृति ही मूल ग्रन्थ हैं। चारों वेद, शास्त्र, संहितायें, उपनिषद पुराणादिक नाना ग्रन्थ इसकी व्याख्या एवं स्पष्टीकरण हैं। तर्क शास्त्र की कसौटियों पर अहर्निश प्रकृति मन्थन द्वारा प्रकट सम्पूर्ण ग्रन्थ, विश्व विद्यालय की नाना कक्षाओं के नाना पाठयक्रम हैं, जिन्हें पढ़ता हुआ छात्र, मानसिक परिपक्वता को प्राप्त होता, ऋषि बन, मूल ग्रन्थ को पढ़ने हेतु, प्रकृति में उतर आता है।

★

प्रथम मण्डल,

दशम सूक्त

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१.१०.१.

गाती तुम्हें गायत्रियां, अर्चन करती सूर्य रश्मियां ! ब्रम्हा हो तुम, महाशिव तुम्हीं, वृद्धिदाता विष्णु हो।

(गायन्ति) गाती हैं ! (त्वा) तुमको (गायत्रिणः) गायत्रियां (अर्चन्ति) अर्चन करती हैं (अर्कम्) सूर्य की (अर्किणः) ज्योतियां (ब्रम्हाणः) ब्रम्हा (त्वा) तुम

हो (शतक्रत) प्रलयंकर रूद्र (उद्वंशमिव येमिरे) वशों को वृद्धि देने वाले, देवत्व को उत्थान देने वाले, महाविष्णु, तुम हो।

हे यज्ञ के अधिष्ठित देव ! हे आत्मा ! हे श्रीकृष्ण ! सम्पूर्ण गायत्रियां ! सम्पूर्ण वेद ! हे देव ! गायन करते हैं तुम्हारा ! सम्पूर्ण सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादिक अपनी ज्योतियों, दीप्तियों सहित तुम्हारा निरन्तर अर्चन करते हैं। तुम्हीं सचराचर के मात्र पूज्य हो ! सचराचर को धारण करने वाले, ब्रम्हा तुम्हीं हो। संहार को करने वाले, महाप्रलय के आदि देव महाशिव तुम्हीं हो ! तुम्हीं शक्ति हो ! तुम्हीं शक्ति नाथ हो ! तुम्ही सृजन के आदि देव, महाविष्णु हो ! सम्पूर्ण सचराचर में तुम्हीं वशों का उद्धार करने वाले हो ! तुम्हीं अज्ञान का संहार कर, देवज्ञान द्वारा जीवों को देवत्व में ऊपर उठाने वाले हो। तुम्हीं मोक्षदाता हो ! हे अधिष्ठित देव ! हे घट-घट वासी आत्मा ! हे गोविन्द ! तुम्हीं सर्वस्व हो ! तुम्हीं यज्ञ हो ! यज्ञ का तेज हो ! ज्योति हो ! तुम्हीं सांकल्य को जोतिर्मय राह देने वाले हो।

गुरूर्ब्रम्हा, गुरूर्विष्णु, गुरूर्देवो महेश्वरः ।
गुरू साक्षात परंब्रम्ह, तस्मै श्री गुरूवे नमः ।।

हे आत्मा ! हे घट-घट वासी आत्मा, श्रीकृष्ण ! हे सम्पूर्ण यज्ञों के अधिष्ठित देव ! हे सम्पूर्ण गायत्रियों के अराध्य ! आप ही मेरे दीक्षा गुरू हैं ! आप ही दर्श यज्ञ हैं तथा यज्ञ की पूर्णता हैं ! आप ही फल हैं।

यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्य्यस्पष्ट कर्त्वम् ।

तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥१.१०.२.

कर्तव्य आरूण सूर्य आरोहण करता, पर्वतों को करता प्रकाशित जिस प्रकार ! प्रज्वलित आत्म-यज्ञ अग्नियों में चैतन्य सत्य ज्ञान का करता आरोहण ! कांपता, मिटता असत्य, अन्धकार !

(यत) जिस प्रकार (सानोः) पर्वतों पर (सानुम) सूर्य (आरोहत्) आरोहण करता हुआ (भूर्यस्पष्ट) उत्पत्ति और प्रकाश रूपी (कर्त्वम्) कर्त्वय का पालन करता है ! (ततः) उसी प्रकार, ऐसे ही (इन्द्रः) महान आत्मा (अर्थम्)

जीवन - यज्ञ के उद्देश्यों को, यज्ञ को अमर ज्वालाओं को (चेतति) चैतन्य करता है, प्रज्वलित करता है, सत्य को प्रकाशित एवं स्पष्ट करता है। (वृष्णि:) क्रोध, पाखण्ड, अन्धकार, अज्ञानादि (यूथेन) समूहों को (एजति) कम्पायमान करता है, नष्ट करता है!

हे जीवन यज्ञ! हे सचराचर के उद्धारक। हे आत्म यज्ञ! जिस प्रकार, हे प्रभु! आप सूर्य रूप हो, पर्वतों से पर्वतों पर आरोहण करते, उत्पत्ति तथा प्रकाश रूपी कर्तव्य का संचार करते हैं! उसी प्रकार हे दर्श–यज्ञ! आप ही आत्मा हैं! आप ही यज्ञ के अधिष्ठित देव हैं! जिस प्रकार आप, आत्म-यज्ञों के द्वारा जीव का निरन्तर पतित योनियों से उद्धार करते हुये, उसका आरोहण मनुष्य की योनि में करते हैं। उसी प्रकार आत्मस्थ हो, आत्म-यज्ञ करते जीवों के लिये आप ही ब्रम्ह ज्वालाओं को यज्ञ में चैतन्य करते, उत्पत्ति के रहस्य ज्ञान तथा सत्य रूपी ज्ञान से उन्हें प्रकाशित करते हैं। उनके जीवन में व्याप्त, असत्य, अज्ञान, पाखण्ड और क्रोध का विनाश करते हुये, उन्हें देवत्व में उठाते हैं! उनके जीवन में देवत्व रूपी प्रकाश का आरोहण करते, उन्हें उन्नत मोक्ष मार्ग पर ले जाते हैं! हे गोविन्द! आप ही यज्ञ हैं! आप ही योग हैं! आप में व्याप्त होना ही मोक्ष है।

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥१.१०.३

आत्म मस्त ही कहाता भ्रम हन्ता! पाता इन्द्रियों का नियन्त्रण! मन इन्द्रियों से पवित्र अलंकृत, श्रुति-गान करता पीता ज्योतिर्मय सोम! विचरण करता देवत्व में!

(युक्ष्वा हि) आत्मा में मस्त, मुदित (केशिना हरी) केशिन को मारने वाले, श्रीकृष्ण! भ्रम रूपी केशिन की हत्या करने वाले, घुमड़ते बादलों के अंधकार को मिटाकर, घटाकाश को महाकाश में निर्मल करने वाले, ज्योति (तड़ित) रूपी वज्र को धारण करने वाले, इन्द्र (वृषणा कक्ष्यप्रा) उत्पत्ति को धारण करने वाली ज्वालाओं का विशेष घर, आत्म कुण्ड, ब्रम्ह रन्ध्र में पशुपताग्नियों को धारण करने

वाला, विशेष घर, अग्नि-पात्र विशेष, सोम पात्र, (अथ) आरम्भ, मंगल (नः) हमको (इन्द्र) महान, आत्मा, ईश्वर, इन्द्र (सोमपा) ज्योति पान कराना (गिराम्) स्तुतियों में, संसार में (उप) व्याप्त होना (श्रुतिम्) श्रुतियों में, वेद की ज्ञान धाराओं में, उत्पत्ति के रहस्यों के ज्ञान में (चर) विचरण करना।

हे केशिन नामक दैत्य-हन्ता ! हे श्रीकृष्ण ! हे देव पूज्य इन्द्र ! सम्पूर्ण भ्रमों का विनाश कर, साधकों को आत्म-ज्ञान से वरद् करने वाले, प्रभु ! उत्पत्ति को धारण करने वाले ब्रम्ह ज्ञान से तपस्वियों को वरद् करने वाले ! ब्रम्हाग्नियों को धारण करने वाले, आत्मा रूपी पात्र से अद्वैत कराने वाले, हे परंब्रम्ह ! मन इन्द्रियों के आराध्य ! श्रुति ज्ञान के दाता ! आत्मा रूपी कुण्ड में प्रकट ज्योति रूपी सोम का पान करा कर अमृत प्रदान करने वाले सृष्टा ! हमें भी हमारी आत्माग्नियों में प्रकट हुये सोम (अमृत तेज) का पान करवा कर, देवत्व में विचरण करने के अधिकार से युक्त करो ! दर्शयज्ञ के अधिष्ठित देव ! हमें सोम पान से वरद् करो।

एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्यारुव।
ब्रह्मा च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय॥ १.१०.४.

यही यज्ञ, गाते सम्मुख, व्याप्त हो, करते आरोहण ! आत्मा है अग्नि हमारी ! आत्म स्थित होता अमर ! पाता उत्थान।

(एहि) यही (स्तोमाँ) दर्श-यज्ञ हैं (अभि) सम्मुख होकर (स्वर) गा रहे (अभि) व्याप्त होकर (गृणीह्या रूव) गुन्थ कर, युक्त होकर करते आरोहण (ब्रम्ह) आत्मा, परमेश्वर (च) तथा (नो) हमारी (वसो) अग्नि (सचेन्द्र) युक्त होकर, आत्म ज्वालाओं से (यज्ञं) यज्ञ अर्थात आत्म स्वरूप होते (च) तथा (वर्धय) अमर उत्थान, मोक्ष को प्राप्त करते ! विष्णु स्वरूप (आत्म स्वरूप) उद्धार पाते !

अहो यही है दर्श यज्ञ ! जिसे गाते रहे हैं हम आत्म सम्मुख होकर ! आत्मा है यज्ञ का अधिष्ठित देव ! प्राणवायु उपऋित्विज हमारा ! आत्माग्नि है ब्रम्हाग्नि, आत्म ज्वाला हमारी ! तन, मन, विचार, जीवत के क्षण, सामिग्री है। समर्पण, साधना, एकाग्रता का घृत है। जीव रूप हम सब है यजमान। यही है

दर्श यज्ञ, जिसे निरन्तर गाते रहे हम, यज्ञ (वाह्य-यज्ञ) के निमित्त होकर ! यही है रहस्य दर्श-यज्ञ का । यही है मोक्ष का महामन्त्र । आत्मस्थित जीव ही, हे गोविन्द! आप में स्थित है ! व्याप्त होकर आत्म ज्वालाओं में जो हुआ अरूप, उसने पाया आपका रूप, विष्णु पद ! उसका ही जीवन सफल है । वह ही यज्ञों को जानने वाला है । यज्ञ से मोक्ष को प्राप्त करता, पूर्ण ब्रम्ह में व्याप्त हो, पाता है पूर्णत्व ! सादृश्य, सारूप, सायुज्य और सम्पूर्ण !

उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च ॥१.१०.५.

स्तोत्र महान बनते यशगान ! होता उद्धार महान ! देह भाव के निरोध! आत्म ज्योति में यज्ञ हो निचुड़ते यथा, पाते प्रशंसनीय मृत्युन्जय पद ! अजात शत्रु, चक्रवर्ती !

(उक्थम्) स्तोत्र, यज्ञ की ज्वालायें (इन्द्राय) महान, अग्नियां (शंस्यम्) प्रशंसा देना, आत्मसात करना (वर्धनम्) विष्णु, वृद्धि, उत्थान को प्राप्त होना (पुरुनिष्षिधे) हर ओर निरोध को प्राप्त होना, देहाभिमान से रहित होना, देहानिरोध होना (शक्रः) इन्द्र, वज्र, ज्योति (यथा) यथा (सुतेषु) निचोड़े हुये (नः) हम (रारणत्सख्येषु) दोनों हाथों से बाणों की बौछार करना, शत्रु रहित होना (च) तथा !

जीवन रूपी संग्राम में, शरीर रूपी रथ पर, जीव (बुद्धि) स्वरूप अर्जुन (दस इन्द्रियों के अर्जन से सिद्ध होने के कारण---यथा अर्जुन । इन्द्र (मन) की इन्द्रियों से ग्राह्य होने से------इन्द्र पुत्रः) बन, आत्मा स्वरूप सारथि देवलोक को जितने वाले हैं (पुरु निष्षिधे), ऐसे आत्मा को समर्पित होकर, सम्पूर्ण इन्द्रिय रूपी अश्वों को श्री हरि समर्पित भावना से अलंकृत करते हुये, देहाभिमान का परित्याग कर, आत्मा से पूर्णाद्वैत करना । स्वयं को आत्म ज्वालाओं में, सामिग्रीवत् अर्पण करते हुये आत्मा में ही निचुड़ते चले जाना तथा आत्मा में स्वयं को मिटा देना, दर्श यज्ञ है । आत्मा रूपी गर्भ में, स्वयं से स्वयं को उत्पन्न करना, स्वयं भू होना ही अजात शत्रु अर्थात चक्रवर्ती पद है । मृत्युन्जय अवस्था है ! इसी का नाम मोक्ष है ।

तमित्संखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्य्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥१.१०.६.

अन्धेरी रात्रि के, हे ज्योतिर्मय सखा ! तुम्हीं गति हो, तुम्हीं शौर्य हो। संशयी मन हमारे, निःसन्देह प्रकाशित तुमसे ! रक्षित होते अग्नियों में !

(तम) अन्धकार (इत्) इस प्रकार (सखित्व) सखावत्, मित्रवत् (ईमहे) चमकते अहो ! (तं राये) तुम्हीं गति हो (तं सुवीर्ये) तुम्हीं वीर्य हो (स शक्र) तड़ित से युक्त (उत) संशय (शकत) मिटाने वाले, सबल बनाने वाले (इन्द्रः) ज्योति आत्मा, मन (वसु) अग्नि, ज्योति, देवत्व (दयमानः) रक्षक हो !

आवागमन की अन्धेरी रात्रि में, मृत्यु के गहन अन्धेरों में, खो जाते हैं हम, लुट जाते हैं जीवन ज्योति रूपी क्षण ! गति, गन्तव्य और अभिव्यक्ति से शून्य, मृत्यु चादर ओढ़े भटकते हम ! हे आत्मा ! हे श्रीकृष्ण ! आप ही हमारा शौर्य, गति, गन्तव्य बनते हैं ! हे आत्मा ! हे जीव मात्र के सखा ! अन्धेरों से पुनः आपके द्वारा हम नर तन पाते हैं ! जीवन गति को, जीवन प्रकाश को प्राप्त हो जाते हैं !

हे यज्ञ ! बुद्धि, मन, इन्द्रियों के द्वारा हम असत्य अज्ञान के अन्धेरों में भटक जाते हैं। आप ही आत्मज्योति बन, हमें सन्मार्ग पर लाते हैं । संशयों से निवारण करते हैं। आपके द्वारा हम सदैव रक्षित होते हैं।

आत्मा रूपी यज्ञ की राह में, आत्मस्थ होकर जब हम सर्वस्वता से हो जाते हैं यज्ञ ! यज्ञ रूपी गर्भ से ज्योतियों में जन्म होता हमारा ! हम ज्योतिर्मय शिशुओं को रक्षित करते हैं आप। मित्य स्वरूप जीवन रक्षित होता आप से ! आप ही जीवन ज्योति हैं! आप ही सत्य ज्ञान हैं! आप ही यज्ञ हैं! आप में ही यज्ञ होकर अमर स्वरूप पाते हैं। आप ही हैं सचराचर के रक्षक !

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादांतमिद्यशः।
गवामपं व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥१.१०.७.

निवृति दाता ! मोक्ष दाता ! हे पतित पावन ! हे ज्योति के अक्षय भण्डार ! यज्ञ करो हमारा, अखण्ड वज्र सा अमर स्वरूप दो हमे !

[सुविवृतं] दिव्य, निवृति के देने वाले, आवागमन से रहित करने वाले (सु निः अजम्) परम् मोक्ष में स्थित करने वाले (त्वादातम्) पवित्र एवं निर्मल, धुले हुये (इत) ऐसे (यशः) यश, सम्मान को देने वाले, सम्मानित करने वाले (गवाम्) ज्योतियों, गौवों (अप व्रजम) निवास स्थान (वृधि) बढ़ाना (कृणुष्व) उत्पन्न कीजिये, मोक्ष दीजिये (राध] प्रसन्न करना, सिद्ध करना, स्वयं में मिला लेना, ज्योतिर्मय बनाना [अद्रिव] निष्प्रयोजन, अकिंचन ।

[अद्रिव] हम, जो किसी भी योग्य नहीं है ! ऐसे अकिंचन साधनों को हे कृष्ण [मोक्ष को देने वाले] अपनी दीप्ती में, राधा जी की भांति ग्रहण करें, योग का अधिकार प्रदान करें ! हे गौवों के वंशों की भांति ही, ज्योतिर्मय ग्रहों और नक्षत्रों के वंशों की वृद्धि करने वाले ! हे निवृत दाता ! मोक्ष दाता ! हे पतित पावन ! हे ज्योति के अक्षय भण्डार ! ज्योतियों के निवास स्थान अर्थात आत्मा रूपी यज्ञ-कुण्ड के अधिपति ! आत्मस्थान में हमें गौवों की भांति, नक्षत्रों की भांति, निर्मल और पवित्र कर, स्थान दें । हमें स्वयं में योग द्वारा मिटा दे ! हमारे निष्प्रयो-जन जीवन को सार्थक बना दें । आपके द्वारा हम निर्मल होकर सांकल्य की भांति यज्ञ-कुण्ड में शेष हो जाये ! निष्प्रयोजन भी सार्थक प्रयोजन से परिपूर्ण हों ! यज्ञ की ज्वालाओं के गर्भ में व्याप्त हो जायें ।

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वंतः ।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि ॥ १.१०.८.

नहीं स्वर्ग और पृथ्वी उभय होकर अणुमात्र व्याप्त होते तुममें ! जायें आत्मवती के संग, गायें हम त्राहिमाम् ! त्राहिमाम् !!

[नहि] नहीं [त्वा] तुम में [रोदसी] स्वर्ग और पृथ्वी [उभे] उभय होकर [ऋघायमाणमिन्वतः] अणु मात्र भी व्याप्त होते तुममे [जेषः] विजयी, विष्णु [स्वर्वतीर] आत्मवती, स्वर्गलोक सम्बन्धी [सं गा] संयुक्त गायें [अस्मभ्यं] हम लोग [धूनहि ! धूनुहि] त्राहिमाम् ! त्राहिमाम् !!

अहो ! नारायण के स्वरूप का दर्शन करें ! वे ही आत्मा होकर सचराचर में विद्यमान हैं ! वे परंब्रम्ह हैं ! अर्थात ब्रम्ह में भी परम् हैं । ब्रम्ह शब्द का अर्थ है सचराचर का सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दु, जिसमें सचराचर की सम्पूर्ण शक्तियां, कृतियां निहित हैं तथा जो अविभाज्य है ! पुनः विभक्त नहीं हो सकता है । अर्थात अमर है। उसे ही ब्रम्ह कहा गया है। वह बिन्दु अर्थात ब्रम्ह एक ही है । उसी से जुड़कर सम्पूर्ण सचराचर बनता है तथा आयु के शेष होने पर पुनः उन्हीं बिन्दुओं में विसर्जित हो जाता है । आत्मा को 'परंब्रम्ह' कहा गया है । अर्थात जो सूक्ष्म बिन्दु में भी अति सूक्ष्म होकर व्याप्त है । आत्मा की दूसरी उपाधि 'परंब्रम्ह' है । अर्थात सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड भी उसमें समा जाये, फिर उसकी सीमायें न आंकी जा सकें ! वह शरीर के सूक्ष्म अणुओं में है तथा सम्पूर्ण शरीर उसमें व्याप्त होकर भी अणु मात्र भी नहीं है उसका ! पृथ्वी और आकाश, सब मिल कर भी उसका अणु मात्र होकर भी नहीं व्याप्त होते उसमें ! वह व्यापक और असीम है तथा अणु-अणु में व्याप्त है ! ऐसे आत्मा को जीवन की राह बनाये ! उसे ही सदा गायें ! आत्मस्थ हो आत्मा में स्वयं को मिटा दें ! अद्वैत करें !

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः ।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥१.१०.९

आह्वान श्रुति पूज्य तुम्हारा ! हे यज्ञ रक्षक ! मन वाणी और अन्तर के क्षीर सागर में ! संयुक्त हो हमारे अन्तर में ! आत्म-यज्ञ में व्याप्त हों ! स्वयं में व्याप्त करो हमें !

(आश्रुत्कर्ण) आह्वान श्रुतिपूज्य (श्रधी) रक्षा करने वाले (हवं) यज्ञों की (नू) में (चिछधिष्व) मन के क्षीरसागर में (मे) में (गिरः) वाणी, ज्ञान, विद्या (इन्द्र) महान, परमेश्वर, आत्मा रूपी यज्ञ (स्तोममिमं) जीवन रूपी यज्ञों में, यज्ञों द्वारा उत्पत्तियों में (कृष्वा) कीजिये, अमर कीजिये (युजः) योग करें, जोड़े, अद्वैत करें (चित्) मन (अन्तरम्) अन्तर्मुखी !

सम्पूर्ण वेद स्तुति वन्दन करते हैं तुम्हारा ! हे श्री कृष्ण! हे सम्पूर्ण यज्ञों के रक्षक ! उत्तरा के गर्भ की भाँति ही, यज्ञ द्वारा उत्पत्ति को प्राप्त सम्पूर्ण नवजात

शिशुओं की रक्षा करने वाले। अश्वत्थामा (अश्वस्थ इव स्थान बलम = अश्वत्थामा) रूपी माया के प्रभाव को निरस्त्र कर, यज्ञ (गर्भ) से उत्पन्न होते जीवों को निर्भय करनें वाले, उन्हें जीवन ज्योति एवं उत्थान प्रदान करने वाले, हे परीक्षित भय हारी! हमारे मन के क्षीरसागर में पधारों, हे देव ! हमारी वाणी, बुद्धि ज्ञान में निरन्तर आप ही रहें। बस आप ही रहें ! हे महान ! हमारे दर्श यज्ञों में, आत्म गर्भ हो, पुनर्उत्पत्ति में, हमारे पुनः उत्पन्न शैशव ज्योतिर्मय स्वरूपों में, आप ही हों ! योग द्वारा हम आपका अद्वैत पायें ! मन से, वाणी से, अन्तर के क्षीरसागर में, आप में, व्याप्त हों ! तद्रूप हो जायें ! दर्श यज्ञ पूर्ण हों हमारे !

विद्मा हि त्वा वृषंन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम् ।
वृषंन्तमस्य हूमह ऊतिं संहस्र सांतमाम् ॥१.१०.१०

तुम हो कर्त्ता और अधिष्टाता यज्ञों के ! यज्ञों में व्याप्त, समर्पित हमको, अग्नियों से युक्त कर, सहस्त्र ऐश्वर्यों-सुखों में उत्पन्न करो !

(विद्माहित्वा) हे ज्योतिर्मय तुम अहो ! (वृषन्तमम्) सृष्टियों के उद्गम (बाजेषु) यज्ञाहूतियों को (ध्वनश्रुतम्) ग्रहण करने वाले, धारण करने वाले, यज्ञ की रक्षा करने वाले ! (वृषन्तमस्य) यज्ञ से उत्पन्न नवजात नूतन स्वरूपों को (हूमहे) ज्योतियों से (उतिं) सिलें, व्याप्त करें (सहस्त्र सातमाम) सहस्त्र सुखों और ऐश्वर्यों को देने वाले मोक्ष से संयुक्त करें !

हे यज्ञेश्वर ! हे गोविन्द ! हे सचराचर के उद्गम ! यज्ञों की आहूतियों को ग्रहण कर पुनः उत्पत्ति को निरन्तर करने वाले ! यज्ञ रूपी गर्भ में प्रकट हो रहे नवजात जीवन की रक्षा करने वाले ! रश्मियों रूपी डोरियों, नवजात शिशु को बुनने वाले ! जीवन के सहस्त्र-सहस्त्र सुखों को देने वाले ! हे गोविन्द ! इसी प्रकार यज्ञ से उत्पन्न एवं आपके द्वारा प्रदत्त सुखों के ऐश्वर्य से पूर्ण, हम ऋषि गण ! आप द्वारा प्रदत्त, तन रूपी सामिग्री को आत्म ज्वालाओं में अर्पित कर रहे हैं ! हमें सम्पूर्ण, सर्वांग यज्ञ में व्याप्त करें ! यज्ञ में हम सब महा प्रलय को प्राप्त होकर पुनः नवजात ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त हों ! आप द्वारा रक्षित एवं मोक्ष रूपी सहस्त्र

सुखों को प्राप्त हों ! हमारे नवजात रूपों की सृष्टि, रक्षा एवं उत्थान करें। हे ज्योतिर्मय ज्योतियों की डोरियाँ हमारे नये स्वरूपों को बुने !

ओं तू नं इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिंब।
नव्यमायुः प्रं सू तिंर कृधि संहस्रसामृषिंम्॥१.१०.११

आत्म-पात्र में निचोड़े जीवन-अग्नि का शीघ्र पान कराओ हमें ! हे महान ! हमें मोक्ष प्रदान कर, ऋषियों को सान्त्वना दो !

(आतु न इन्द्र) आहवान तुम्हारा ! हमारे महान पूज्य ! (कौशिक) आत्म-पात्र में व्याप्त (मन्द सानः) अमर ज्योति दाता, विष्णु, कृष्ण (सुंत पिब) यज्ञ में उत्पन्न, निचोड़े हुये द्रव्य का (पिब) पान कराओ! (नव्यमायु) नित्य-आयु (प्र) व्यापक अमर (सू तिर) उत्पत्ति और मृत्यु से रहित (कृधि) धारण कराओ (सहस्त्रसाम् ऋषिम्) सहस्त्र ऋषियों को ढाढस दो, आश्वस्त करो !

यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त, गुरू के आदेश पर, हम गये थे ऋषियों (वृक्षों) से मांगने भोजन ! एक याचक बनकर प्रार्थना की थी उनसे, "हे ऋषिगण! हे वृक्षरूप में प्रकट निष्काम देवों ! आपने आत्मस्थ होकर यज्ञ किये हैं ! भस्मी तथा सड़ी हुई मिट्टी को आत्म-यज्ञ के द्वारा अन्न, फल तथा सुगन्धित पावन वनस्पतियों का रूप प्रदान किया है। हे देव ! आपके ये सम्पूर्ण यज्ञ अभी अधूरे हैं ! इन्हें पूर्णता प्रदान करने हेतु, आप इन्हें (वनस्पतियों को) हमें प्रदान करें ! हम इन्हें सामिग्री बनाकर, भोजन के रूप में, ब्रम्हार्पण अर्थात आत्मा को यज्ञ के लिये प्रदान करेंगे ! आपकी कृपा से हम पुष्ट देह तथा दीर्घायु को प्राप्त होकर, निरन्तर आत्मा में तपते हुये, शरीर सामिग्री (जो आपने हमें प्रदान की है) को आत्म-ज्वालाओं में यज्ञ करते हुये मोक्ष को प्राप्त होंगे। आप ही सहस्त्र आनन्द और वर को प्राप्त करेंगे। सामिग्री तो आप ही है !"

इसी प्रकार जीवन पर्यन्त हम ऋषियों अर्थात वृक्षों, पौधों और लताओं से सामिग्री हेतु अन्न, भोजनादि प्राप्त करते रहे हैं ! हमारे शरीरों के पितृ, ये वृक्ष पौधे ही हैं ! ऋषि भाव के जनक भी वे ही हैं। एक ऋषि की भावना से मौन

साधना में तल्लीन हैं। निष्काम सेवा में आत्मा रूपी ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। अन्न के बदले दाम नहीं मांगते। निष्काम सेवा रत हैं। याचक का नाम, पता, कुल, जाति, कुछ नहीं पूछते हैं! निष्काम भाव से, भेदभाव से रहित सेवा करते हैं। बदले की भावना से दूर हैं। पत्थर मारो फल देते हैं! हत्यारे पर भी कृपा ही करते हैं! पेड़ काटने वाले के घर में भी तख्त बनकर उसके परिवार का हित करते हैं! दधीचि से महान हैं। स्वयं को जलाकर, उन्हें उष्मा प्रदान करते हैं! ये सब ही ऋषि महान हैं!

हे गोविन्द! हम इनके ऋणी हैं। वचन बद्ध हैं। हे नारायण! तन रूपी सामिग्री को यज्ञ की ज्वालाओं में ग्रहण कर इन्हें भी सहस्त्र-सहस्त्र आनन्द प्रदान करें! हमारे शरीर, इन्हीं महान ऋषियों द्वारा कृपापूर्वक दान की हुई यज्ञ सामिग्री हैं। वे सब सहस्त्र-सहस्त्र आनन्द और वरदान के अधिकारी हैं! हे यज्ञ! हे गोविन्द! हमें यज्ञ करो, यज्ञ में प्रकट ज्योति रूपी अमृत का पान कराओ। हम मोक्ष पायें, सहस्त्रों ऋषियों के सुख का हेतु बनें!

परिं त्वा गिर्वणो गिरं इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टां भवन्तु जुष्टयः॥१.१०.१२

व्याप्त होकर तुममें, हे दीक्षा गुरू! जीवन-मन्त्र पाता सचराचर! निरन्तर अनुसरण करता तुम्हारा, होता सम्पन्न, होता अमर! (परि) व्यापक (त्वा) तुम (गिर्वणों गिर) दीक्षा गुरूओं के वन्दनीय गुरू मन्त्र (भवन्तु) जिससे होता जीवन्त (विश्वतः) क्षण भंगुर, सचराचर (वृद्धायुमनु) दीर्घ काल तक पोषित होता, करता अनुसरण (बृद्धयो) चिर उत्थान पाता (जुष्टा) सज्जित सम्पन्न होता (जुष्टयो) नित्य सम्पन्नता, मोक्ष (भवन्तु) प्राप्त होता है।

हे गोविन्द! हे यज्ञ! दोक्षा गुरूओं को मन्त्रयुक्त करने वाले, हे महा गुरू! आज एकाग्र होकर, देह रूपी वस्त्रों से भी निर्वस्त्र और अकिंचन होकर, इन दहकती ज्वालाओं में व्याप्त होकर, ब्रम्ह ज्ञान रूपी मन्त्र को इच्छा कर रहा हूँ! कच की भाँति ही व्याप्त हूँ तुममें। जल रहा हूँ तुममें। ज्योति पान करता हूँ तुममें! तुम

में नया जन्म पा रहा हूँ ! तुममें ही निरन्तर पोषित होता वृद्धि को प्राप्त हो रहा हूँ ! चिर उत्थान पा रहा हूँ तुममें! ब्रम्ह-ज्ञान के दीक्षा मन्त्रों को पा रहा हूँ तुममें!

महर्षि मधुच्छन्दा जगमग ज्योति स्वरूप हो गये हैं ! अंग-अंग से ज्योतियां और अग्नियां प्रस्फुटित होने लगी हैं। वे मात्र एक ज्योति पुंज से पारदर्शी हो उठे हैं ! अटल समाधिस्थ हैं ! (दशम् सूक्त समाप्त)

★ ★ ★

ऋग्वेद प्रवचन

प्रथम मण्डल, एकोदशः सूक्त

ऋषि मधुच्छन्दा सर्वांग ज्योतिर्मय हो उठे हैं ! उनकी वाणी मौन है तथा शरीर स्थिर! उनके परम शिष्य, जेता माधुच्छन्दस, ऋषि विश्वामित्र के पचास पुत्र, नत मस्तक हैं ! उन्होंने ऋषि मधुच्छन्दा से दर्श-यज्ञ के रहस्यों को सामर्थ्य सहित ग्रहण किया है। मधुच्छन्दा रूके भी उन्हीं के लिये थे ! अपने कर्तव्य को पूर्ण कर वे अनन्त ज्योति, अजर-अमर स्वरूप को प्राप्त हो रहे हैं। अधिष्ठित देव पीठ पर विराजमान भगवान श्रीकृष्ण में ही उनकी ज्योतियाँ समा रही हैं। स्तुति का गान कर रहे हैं पावन माधुच्छन्दस !

इन्द्रं विश्वां अवीवृधन्त्समुद्रव्यंचसं गिरः।

रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिम्पतिम् ॥ १.११.१

हे महान ! सचराचर में उत्पत्ति की वृद्धि करने वाले, अथाह असीम क्षीर-सागर के समान, अखण्ड ज्ञान के भण्डार ! महारथियों के पूज्य, सत्य पतियों के यज्ञ के अधिष्ठाता !

(इंद्रम्) महान (विश्वा) सचराचर (अवीवृधन्) उत्पत्ति की वृद्धि करने वाले। जब स्त्री रजस्वला होती है उस अवस्था का नाम अवी है। (समुद्रव्यचसं) अथाह समुद्र के समान (गिरः) ज्ञान, ब्रम्ह ज्ञानी (रथीनाम्) रथियों में (रथीतमय)

सर्वोत्तम महारथी (वाजानां) यज्ञों में (सत्पतिम्) अधिष्ठित देवों के (पतिम्) अधिष्ठ ता !

हे महान ! हे प्रदीप्त ! साख्यात परमेश्वर स्वरूप! आप सम्पूर्ण उत्पत्तियों को धारण करने वाले, सचरावर को उत्पत्ति से वरद करने वाले समर्थ हैं ! आप ब्रम्ह ज्ञान के अथाह, असीम सागर के रूप में प्रकट हैं !

हे गोविन्द स्वरूप गोविन्द ! हे अजर-अमर, हम जेता माधुच्छन्दसों के प्रणाम स्वीकार करो! ब्रम्ह ज्योति से अद्वैत कर कृष्णाद्वैत करने वाले हे पवित्र गुरू! आप जीवन यात्र के रथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी हैं! हे पूज्य ! आप सचराचर के स्वामी में व्याप्त, साक्षात कृष्ण हो गये हैं! दर्श यज्ञ के सत्पत्ति ! आपने अधिष्ठित देव का पद पाया है। आप यज्ञों के अधिष्ठित देव के रूप में सदा ग्रहण किये जायेंगे। आप ही सत् हैं आप ही सत्पतियों के पति हैं ! आप ही क्षीरसागर के समान असीम, अथाह एवं नित्य स्वरूप ज्ञान के भण्डार हैं ! आप ही सचराचर की उत्पत्ति को धारण करने वाले हैं।

सख्ये तं इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।

त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥ १.११.२.

सखा हो यज्ञों के महान ! ऐश्वर्य-ज्योतिर्मय महाशिव ! जेताओं के अमर देव ! झुके प्रणाम सम्मुख तुम्हारे !

(सख्ये) मित्र, सखा (ते) आप (इन्द्र) महान (वाजिनः) यज्ञों के (मा) ऐश्वर्य (भेम) ज्योति (शवसःपते) प्रलयंकर रूद्र, महाशिव (त्वाम) आप (अभि) सम्मुख (प्रणोनुमों) वन्दनीय, प्रणाम के योग्य (जेतारम्) जेता माधुच्छन्दसों के (अपराजितम्) अजेय, अमर, मृत्यु को जीतने वाले !

गा रहे हैं जेता माधुच्छन्दस ! नत मस्तक है पावन गुरू मधुच्छन्दा के चरणों में ! हे महान मधुच्छन्दा ! माधुच्छन्दसों को अपराजित अर्थात अमर अजेय अवस्था प्रदान कराने ! हे मृत्युञ्जय !! आप सम्पूर्ण यज्ञों के सखा अर्थात आत्मा हैं ! आप ही ऐश्वर्य अर्थात लक्ष्मी पति हैं। आप ही ज्ञान की ज्योति अर्थात ब्रम्हा हैं

तथा आप ही मृत्यु को जीवन्त करने वाले प्रलंयकर रूद्र अर्थात महाशिव हैं। आप ही जेता माधुच्छन्दों के नित्य आराध्य एवं पूज्य हैं! आपकी कृपा से ही जेता माधुच्छन्दस आवागमन के रहस्यों को धारण कर ब्रम्हा से ज्ञानी हुये हैं! आपकी कृपा से पशुपताग्नियों को धारण करने की सामर्थ्य को प्राप्त हो, वे रूड़ के समान जड़ को जीवन्त करने वाले यज्ञों की सामर्थ्य को धारण कर पाये हैं! आपकी कृपा से नित्य जीवन के ऐश्वर्य को धारण कर, वे महाविष्णु की शोभाओं से युक्त हैं! वे सब आपके पावन चरणों में नत मस्तक हैं!

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।

यदि वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम्॥ १.११.३.

विगत हो मन दस्यु से, आत्म ज्योति में समर्पित! जितेन्द्रिय सामिग्री सा आहूत, यज्ञ की रश्मि बन उठता! सत्य चिरन्तन!

(पूर्वीः) चिरन्तन, निरन्तर (इन्द्रस्य) महान ज्वालाओं (रातयः) समर्पण (न) नहीं (वि) विगत (दस्यन्ति) दस इन्द्रियों वाला बहिर्मुखी मन रूपी दस्यु (अतय) रश्मियों, ज्योतियों (यदि) यदि (वाजस्य) यज्ञ सामिग्री (स्तोतृभ्यः) वेद की ऋचाओं, यज्ञ के स्तोत्रों, जीवन्त नित्य ज्योतियों ऋत्विजों (मंहते) मन को मारने वाले, जीतने वाले (मघम) इन्द्र, ईश्वर, सत्य!

हे महान, सत्य चिरन्तन! जितेन्द्रिय आत्म ज्ञानियों के पावन गुरू! आत्म-यज्ञ की पावन रश्मियों को समर्पित होता जीव, यज्ञ होता अपनी ही ब्रम्ह ज्वालाओं में! बनकर सांकल्य, सामिग्री, होता तिरोहित! पाता सत्य स्वरूप चिरन्तन! जाता ज्योतियों की राह! पाता नित्य स्वरूप तुम्हारा!

पुराम्भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।

इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ १.११.४.

क्षणभंगुर रूप को छिन्न-भिन्न कर, जलाते आत्म ज्वालाओं में! पाते रूप अमर युवा! नित्य, अखण्ड, ज्योति स्वरूप!

(पुराम्) शरीरों (भिन्दुः) छिन्न-भिन्न कर (युवा) तरूण स्वरूप (कविः) आत्मा जैसा (अमित ओजाः) अमित ओज, अनन्त ज्योति (अजायत) उत्पन्न करने वाले (इन्द्रः) ऐश्वर्य युक्त, महान, ईश्वर (विश्वस्य) मृत्यु से रहित ऐसे (वि = विगत; श्व = मृत्यु, कल; अस्य = ऐसे ! (कर्मणः) कर्म के द्वारा (धार्ता) धारण (वर्जी) अभेद, वज्र के समान (पुरूष्टुतः) पौरूष को प्राप्त होना ।

जो मिटा नहीं, उसने नहीं पाया रूप नया ! यही नियम है सचराचर ! पेड़ की गुठली जब स्वयं को मिट्टी में मिला देती है ! अपने आस्तित्व को समाप्त कर देती है, तभी पाती है रूप नया ! एक पौधे का, जो पेड़ बनेगा ! नित्य युवा, वन्दनीय पौरूष, अमित ओज से सयुंक्त वज्र सा अभेद स्वरूप एवं नित्य वन्दनीय पौरूष को पाने, चाहने वालों ! तुम्हें पुराने जीर्ण शरीरों का मोह त्यागना होगा । प्रकृति और पुरूष के बनाये नियमों के अनुरूप ही मोक्ष सम्भव है । स्वयं को ब्रम्ह-ज्वाला अर्थात आत्म-ज्वालाओं में स्वयं को सामिग्री वत मिटाना होगा । जब छितरा जायेंगे छिन्न-भिन्न होकर रूप हमारे यज्ञ की ज्वालाओं में ! पायेंगे नित्य स्वरूप नया !

त्वं बलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।

त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ १.११.५.

हे उत्पत्ति दाता ! मोक्ष दाता ! आप हैं मन को आत्मस्थ कर, यज्ञ ज्योतियों रूपी जल से पवित्र, ज्योतिर्मय एवं वज्र सा पुष्ठ कर, ऊपर उठाने वाले !

(त्वं) आप (बलस्य) संकल्प शक्ति को, जीवन रूपी संग्राम में जूझते योद्धा को, यज्ञ कर्त्ता को (गोमतः) ज्योतिर्मय दिशा और विचार प्रदान कर, ज्योति के (अपः) जल, समुद्र (अवः) संकल्प, शुद्धता (अद्रिवः) ज्योतिर्मय वज्र की पुष्ठता एवं अमरता (बिलम्) उच्चैश्रवस (इन्द्र के घोड़े का नाम तथा 'इन्द्र' मन को कहा गया है । उच्चैश्रवस मन की आत्मस्थ उर्दवगामो गति को भो कहते हैं !) (त्वां) आप हैं (देवा) देवता, ईश्वर (अबिम्युषः) उत्पत्तिदाता, सबमें व्याप्त, सृष्टि का मूल (तुज्यमानासः) उत्कृष्ट प्रतिष्ठा (आविषु) प्रदान करने वाले ।

तुमने लिपट कर ज्योतियों से, योद्धा की शक्ति और सामर्थ्य से, ज्योति जल के संयोग से, संकल्प और पवित्रता से ब्रम्ह ज्ञान और उत्पत्ति के रहस्यों को जानकर उच्चतम गति पाई, हे पावन गुरू ! हे मधुच्छन्दा ! आप ही हैं हमारे ईश्वर! अधिष्ठाता ! सकल्प ! श्रेष्ठ, उत्कृष्ठ प्रतिष्ठा के दाता ! सृष्टा की राह चलाने वाले!

तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन् ।

उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः ॥ १.११.६.

(आप हैं यज्ञों की पूर्ण कामना, उपमा है परमेश्वर की ! समान विराजते दीक्षा गुरू बृहस्पति के, ज्ञान पाते आपसे यज्ञकर्त्ता होते समर्थ !)

[तवाहं] आप हैं [शूर] शूरवीरों, योगियों, यज्ञ अश्वों की [रातिभिः] पूर्ण कामना [प्रत्यायं] उपमा हैं [सिन्धुमावदन] महाविष्णु की [उपातिष्ठन्त] समीप विराजते हैं [गिवणः] देव गुरू बृहस्पति के [विदुष्टे] सचेत होते हैं, ज्ञान पाते [तस्य] उनसे [कारवाः] यज्ञ कर्त्ता, समर्थ !

हे पावन गुरू मधुच्छन्दा ! आप सम्पूर्ण यज्ञों की पूर्ण कामना हैं ! आप योगियों का पूर्ण विश्राम हैं ! शूरवीरों की विजय हैं आप ! क्षीरसागर में शयन करने वाले महाविष्णु का मंगल स्वरूप आप ही हैं ! गुरूओं में आपका स्थान दीक्षा गुरू, देवगुरू बृहस्पति के समान है। ज्ञान भी आपके द्वारा ही चैतन्य होता है ! आप ही ज्ञान के पूर्ण अधिष्ठाता हैं ! आप ही यज्ञकर्त्ता पाते हैं ज्ञान और सामर्थ्य !

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।

विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥ १.११.७.

[मायापतियों में महा विष्णु ! प्रलयंकरों में महामृत्युन्जय, ज्ञानियों में परम्ब्रम्ह आप हैं ! सम्पूर्ण संशय निर्मूल होते आपके द्वारा !

[मायाभिः] माया पतियों में [इन्द्र] महान [मायिनम्] प्रलंयकर महा-मायापति विष्णु हैं [त्वं] आप [शुष्णभषातिरः] महा मृत्युन्जय हैं ! [विदुष्टे]

ज्ञान स्थित ज्ञानियों [तस्य] ऐसे [मेधिराः] मेधा से संयुक्त [तेषां] उन [श्रवांसि-उत्, तिर] संशय का विनाश करने वाले परंब्रम्ह हैं।

हे अमर गुरू ! आप ही सम्पूर्ण हैं ! माया पतियों में आप महा माया पति विष्णु के समान हैं ! हे महान ! मृत्यु देवों में आप साक्षात प्रलयंकर रूद्र की महामूर्ति हैं ! ज्ञानस्थित महाज्ञानियों आप सम्पूर्ण संशयों का विनाश करने वाले, साक्षात ज्ञान के परमेश्वर परम् ब्रम्ह के समान शोभायमान हैं।

इन्द्रमीशांनमोजंसाभि स्तोमां अनूषत।

सहस्रं यस्यं रातयं उत वा सन्ति भूयंसीः॥१.११.८.

हे महान जगत नियन्ता ! सम्मुख तुम्हारे जो करते अनुसरण ! होकर अद्वैत, पाते ब्रम्हज्ञान, नित्य सहस्त्र सुख और सिद्धियाँ !

[इन्द्रम्] महान [ईशानम्] जगत नियन्ता [ओजसा] ओज से संयुक्त [अभि] सम्मुख, अनुसरण, व्याप्त होना, प्रवेश करना [स्तोमा] यज्ञ, स्त्रोत, स्तुति गान [अनुषत] अनुसरण की कामना, गाना, पीछे जाना [सहस्त्रम्] असंख्य [यस्य] जिसके [रातयः] आनन्द, सुख, उपलब्धियाँ, व्याप्त होना, लीन होना [उत वा] अधिक, तथा, और, फिर-फिर [सन्ति] होती है [भूयासि] ब्रम्हज्ञान की प्राप्ति, उत्पत्ति-स्थिति आदि के रहस्य !

हे महान! मधुच्छन्दा ! जेता माधुच्छन्दसों के आराध्य ! हे जगत नियन्ता सदृश्य समर्थ, ज्ञानी एवं व्यापक ! जो तेरे राह का एकीभाव से अनुसरण करते हैं ! स्वयं को यज्ञ में व्याप्त करते हैं ! वे पाते नित्य में स्थिति, सहस्त्रों अनन्त सुखों का ऐश्वर्य ! आवागमन के नाना रहस्यों का ज्ञान एवं सामर्थ्य ! तू ही सत्य है ! सत्य जो नित्य है। तू राह है ! तू ही मात्र उपलब्धि है !

नत मस्तक झुके हुए में वे जेता मधुच्छन्दस और ऋषि, मनीषी जन सारे! ज्योति पुंज बनकर गगन में उठते जाते हैं ऋषि मधुच्छन्दा ! जगमग ज्योतिर्मय स्वरूप ! सहस्त्र सूर्यों की कान्ति।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा के दर्श यज्ञ का समापन हुआ।

हरि ॐ ! नारायण हरि !

हरि ॐ

संक्षिप्त संध्योपासनविधि

ब्रह्म मुहूर्त में जब चार घड़ी रात बाकी रहे, शयन से उठ कर भगवान् का स्मरण करे, फिर शौच-स्नान के अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण करके पवित्र तथा एकान्त स्थान में कुश अथवा कम्बल आदि के आसन पर पूर्व, ईशान अथवा उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठे [तीनों काल की संध्या में उपर्युक्त दिशाओं की ओर ही मुँह करके बैठना चाहिये, केवल सूर्यार्घ्यदान, सूर्योपस्थान और गायत्रीजप सूर्याभिमुख होकर करना आवश्यक है] बायें हाथ में तीन कुश और दायें हाथ में दो कुशों की बनी हुयी पवित्री 'ॐ पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ' इस मन्त्र से धारण करे। कुश के अभाव में सोने, चाँदी अथवा ताँबे की अंगूठी पहन कर भी कार्य किया जा सकता है। ओंकार और व्याहृतियों सहित गायत्री-मन्त्र का उच्चारण करके शिखा बाँध ले। यदि पहले से ही शिखा बँधी हो तो उसका स्पर्शमात्र कर ले। एक जोड़ा शुद्ध यज्ञोपवीत धारण किये रहना आवश्यक है। देह पर धौतवस्त्र के अतिरिक्त एक उत्तरीय वस्त्र [चादर या गमछा आदि] डाले रहना चाहिये। उत्तरीय वस्त्र के अभाव में एक और यज्ञोपवीत [कुल मिलाकर तीन यज्ञोपवीत] धारण किये रहे ; फिर किसी पात्र में शुद्ध जल रखकर उसे बायें हाथ में उठा ले और दायें हाथ के कुश से अपने शरीर पर जल सींचते हुये निम्नांङ्कित मन्त्र पढ़े—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

फिर नीचे लिखे मन्त्र से आसन पर जल छिड़क कर दायें हाथ से उसका स्पर्श करे—

ॐ पृथ्वित्वयाधृता लोका देवि त्वं विष्णुनाधृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

इसके बाद यथारुचि शास्त्रनुकूल भस्म-चन्दन आदि का तिलक करे।

तत्पश्चात् 'ॐ केशवाय नमः स्वाहा' 'ॐ नारायणाय नमः स्वाहा' 'ॐ माधवाय नमः स्वाहा'— इन तीनों मन्त्रों को पढ़कर प्रत्येक से एक-एक बार [कुल तीन बार] पवित्र जल से आचमन करे [आचमन के समय हाथ जानुओं के भीतर

हो ; पूर्व, ईशान या उत्तर दिशा की ओर ही मुख हो। ब्राह्मण इतना जल पीये, जो हृदय तक पहुच सके, क्षत्रिय उतना ही जल ग्रहण करे जो कण्ठ तक पहुच सके, वैश्य इतना जल ले जो तालू तक जा सके। उस समय ओठ बहुत न खोले, अँगुलियाँ परस्पर सटी रहें, अँगुष्ठ और कनिष्ठिका अलग रहे; खड़ा न हो, हँसता न रहे। जल में फेन या बुलबुले आदि न हों]। ब्राह्मतीर्थ से तीन बार आचमन करने के पश्चात् 'ॐ गोविन्दाय नमः' यह मन्त्र पढ़कर हाथ धो ले। इसके बाद दो बार अंगूठे के मूल से ओठ को पोंछे, फिर हाथ धो ले। अंगूठे का मूल ब्राह्मतीर्थ है। तत्पश्चात् भीगी हुई अँगुलियों से मुख आदि का स्पर्श करे। मध्यमा-अनामिका से मुख, तर्जनी अँगुष्ठ से नासिका, मध्यमा-अँगुष्ठ से नेत्र, अनामिका-अँगुष्ठ से कान, कनिष्ठिका-अँगुष्ठ से नाभि, दाहिने हाथ से हृदय, सब अँगुलियों से सिर, पाँचों अँगुलियों से दाहिनी बाँह और बायीं बाँह का स्पर्श करना चाहिये।

तदनन्तर हाथ में जल लेकर निम्नाङ्कित संकल्प बढ़कर वह जल भूमि पर गिरा दे—

हरिः ॐ तत्सदद्यैतस्य श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते पुण्यक्षेत्रे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नः अमुकशर्मा अहं ममोपात्तदुरितक्षयपूर्वकं श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रातः (सायं अथवा मध्याह्न) संध्योपासनं करिष्ये।

इसके बाद निम्नाङ्कित विनियोग पढ़े—

ऋतं चेति त्र्यृचस्य माधुच्छन्दसोऽघमर्षण ऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृत्तं दैवतमपामुपस्पर्शने विनयोगः।

फिर नीचे लिखे मन्त्र को एक बार पढ़कर एक ही बार आचमन करे—

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

तदनन्तर प्रणवपूर्णक गायत्री-मन्त्र पढ़कर रक्षा के लिए अपने चारों ओर जल छिड़के। फिर नीचे लिखे विनियोग को पढ़े—

ॐकारस्य ब्रह्म ऋषिर्दैवी गायत्री छन्दः परमात्मा देवता सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्निवायुसूर्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवताः तत्सवितुरिति विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवता, आपोज्योतिरिति शिरसः प्रजापतिर्ऋषिर्यजुश्छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवताः प्राणायामे विनियोगः ।

इसके पश्चात् आंखें बंद करके नीचे लिखे मन्त्रसे प्राणायाम करे । उसकी विधि इस प्रकार है—पहले दहिने हाथ के अँगूठे से नासिका का दायाँ छिद्र बंद करके बायें छिद्र से वायुको अंदर खींचे, साथ ही नाभिदेश में नीलकमल दल के समान श्यामवर्ण चतुर्भुज भगवान विष्णु का ध्यान करते हुए प्राणायाम-मन्त्र का तीन बार पाठ कर जाय (यदि तीन बार मन्त्र-पाठ न हो सके तो एक ही बार पाठ करे और अधिक के लिये अभ्यास बढ़ावे)–इसको पूरक कहते हैं । पूरक के पश्चात् अनामिका और कनिष्ठिका अंगुलियों से नासिका के बायें छिद्र को भी बन्द करके तबतक श्वासको रोके रहे जबतक कि प्राणायाम-मन्त्रका तीन बार (या शक्ति के अनुसार एक बार) पाठ न हो जाय । इस समय हृदय के बीच कमल के आसन पर विराजमान अरूण-गौर-मिश्रित वर्णवाले चतुर्मुख ब्रम्हाजी का ध्यान करे । यह कुम्भक-क्रिया है । इसके बाद अंगूठा हटाकर नासिका के दहिने छिद्र से वायु को धीरे-धीरे तबतक बाहर निकाले, जबतक प्राणायाम मन्त्र का तीन (या एक) बार पाठ न हो जाय । इस समय शुद्धस्फटिक के समान श्वेत वर्णवाले त्रिनेत्रधारी भगवान शंकर का ध्यान करे। यह रेचक क्रिया है । यह सब मिलकर एक प्राणायाम कहलाता है । प्राणायाम का मन्त्र यह है—

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रम्ह भूर्भुवः स्वरोम् ॥

फिर नीचे लिखा विनियोग पढ़े—

सूर्यश्च मेति नारायण ऋषिः प्रकृतिश्छन्दः सूर्यमन्युमन्युपतयो रात्रिश्च देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

तत्पश्चात् निम्नाङ्कित मन्त्र को एक बार पढ़कर एक बार आचमन करे—

ॐ सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद्रात्र्या पापमकार्ष नसमा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु । यत्किञ्च दुरितं मयि इदहंम माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

उपर्युक्त आचमन-मन्त्र प्रातःकाल की संध्या का है । मध्याह्न और सायंकाल के केवल आचमन-मन्त्र प्रातःकाल से भिन्न है । मध्याह्नका विनियोग और मन्त्र इस प्रकार है–

आपः पुनन्त्विति नारायण ऋषिरनुष्टुप् छन्द आपः पृथ्वी ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म च देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

इस विनियोग को पढ़े । फिर नीचे लिखे मन्त्र को एक बार पढ़कर एक बार आचमन करे–

ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् । पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् । यदुच्छिष्टमोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रह स्वाहा ॥

सायंकाल के आचमन का विनियोग और मन्त्र इस प्रकार है–

अग्निश्च मेति नारायण ऋषिः प्रकृतिश्छन्दोऽग्नि मन्युमन्युपतयोऽहश्च देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः ।

इस विनियोग को पढ़े । फिर नीचे लिखे मन्त्र को एक बार पढ़कर एक बार आचमन करे–

ॐ अग्निश्च मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यदह्ना पापमकार्ष मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु । यत्किञ्च दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

फिर निम्नाङ्कित विनियोग को पढ़े ।

आपो हिष्ठेति त्र्यचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिर्गायत्री छन्द आपो देवता मार्जने विनियोगः ।

इसके पश्चात् निम्नाङ्कित तीन ऋचाओं के नौ चरणों में से सात चरणों को पढ़ते हुए सिर पर जल सींचे, आठवें से पृथ्वी पर जल डाले और फिर नवें चरण को पढ़कर सिर पर ही जल सीचे । यह मार्जन तीन कुशों अथवा तीन अगुंलियों से करना चाहिये । मार्जन-मन्त्र ये हैं–

ॐ आपो हिष्ठा मयोभुवः । ॐ ता न ऊर्जे दधातन । ॐ महे रणाय चक्षसे । ॐ यो वः शिवतमो रसः । ॐ तस्य भाजयतेह नः । ॐ उशतीरिव मातरः । ॐ तस्मा अरं गमाम वः । ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ । ॐ आपो जनयथा च नः ।

तदनन्तर नीचे लिखे विनियोग को पढ़े--

द्रुपदादिवेत्यश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयोऽनुष्टुप्छन्द आपो देवताः शिरस्सेके विनियोगः।

फिर बायें हाथ में जल लेकर उसे दाहिने हाथ से ढक ले और नीचे लिखे मन्त्र से अभिमन्त्रित करके उसे सिर पर छिड़क दे--

ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणैवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः।

पुनः निम्नाङ्कित विनियोग-वाक्य को पढ़े--

ऋतञ्चेति त्र्यृचस्य माधुच्छन्दसोऽघमर्षण ऋषिरनुष्टुप् छन्दो भाववृत्तं दैवतमघमर्षणे विनियोगः।

फिर दाहिने हाथ में जल लेकर नासिका में लगावे और [यदि सम्भव हो तो श्वास रोककर] नीचे लिखे मन्त्र को तीन बार या एक बार पढ़ते हुए मन-ही-मन यह भावना करे कि यह जल नासिका के बायें छिद्र से भीतर घुसकर अन्तःकरण के पापको दायें छिद्र से निकाल रहा है, फिर उस जलकी ओर दृष्टि न डालकर अपनी बायीं ओर फेंक दे [अथवा वाम भाग में शिलाकी भावना करके उस पर उस पाप को पटककर नष्ट कर देने की भावना करे]।

अधमर्षण मन्त्र इस प्रकार है--

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीचञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

इसके पश्चात् नीचे लिखे विनियोग-वाक्य का पाठ करे--

अन्तश्चरसीति तिरश्चीन ऋषिरनुष्टुप्छन्द आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः।

फिर निम्नाङ्कित मन्त्र को एक बार पढकर एक बार आचमन करे--

ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥

तदनन्तर नीचे लिखे विनियोग-वाक्य का पाठमात्र करे--

ॐकारस्य ब्रह्म ऋषिर्दैवी गायत्री छन्दः परमात्मा देवता, तिसृणां महाव्याहृतीनां प्रजापतिऋर्षिर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुभश्छन्दांस्यग्निवायुसूर्या देवताः, तत्सवितुरित विश्वामित्र ऋषिर्गात्री छन्दः सविता देवता सूर्यार्घ्यदाने विनियोगः ।

फिर सूर्य के सामने एक चरण की एँडी (पिछला भाग) उठाये हुए अथवा एक पैर से खड़ा होकर या एक पैर के आधे भाग से खड़ा हो ॐकार और व्याहृतियों सहित गायत्री–मन्त्रको तीन बार पढ़कर पुष्प मिले हुए जल से सूर्य को तीन बार अर्घ्य दे। प्रातःकाल और मध्याह्नका अर्घ्य जल में देना चाहिये। यदि जल न हो तो स्थल को भलीभांति जल से धोकर उसी पर अर्घ्यका जल गिरावे। परन्तु सायंकाल का अर्घ्य कदापि जल में न दे। खड़ा होकर अर्घ्य देने का नियम केवल प्रातः और मध्याह्नकी संध्या में है, सायंकाल में तो बैठकर भूमि पर ही अर्घ्य-जल गिराना चाहिये। मध्याह्नकी संध्या में एक ही बार अर्घ्य देना चाहिये और प्रातः एवं सायंसंध्या में तीन-तीन बार। सूर्यार्घ्य देने का मन्त्र [अर्थात् प्रणवव्याहृतिसहित गायत्री-मन्त्र] इस प्रकार है--

ॐ भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमाहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।

इस मन्त्र को पढ़कर 'ब्रह्मस्वरूपिणे सूर्यनारायणाय इदमर्घ्यं दत्तं न मम' ऐसा कहकर प्रातःकाल अर्घ्य समर्पण करे।

तदनन्तर नीचे लिखे वाक्यको पढ़कर विनियोग करे–

उद्वयमिति प्रस्कण्व ऋषिरनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता, उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्निचृद्गायत्री छन्दः सूर्यो देवता, चित्रमिति कुत्साङ्गिरस ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता, तच्चक्षुरिति दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिरेकाधिका ब्राम्ही त्रिष्टुप्छन्दः सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

तदनन्तर प्रातःकाल में खड़ा होकर सायंकाल में बैठे हुए ही अञ्जलि बाँध कर तथा मध्याह्नकाल में खड़ा हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर (यदि सम्भव हो तो) सूर्य की ओर देखते हुए 'उद्वयम्' इत्यादि चार मन्त्रों को पढ़कर उन्हें प्रणाम करे। फिर अपने स्थान पर ही सूर्यदेव की एक बार प्रदक्षिणा करते हुए उन्हें नमस्कार

करके बैठ जाय। (मध्याह्न काल में गायत्री-मन्त्र, विभ्राट्-अनुवाक, पुरुषसूक्त, शिवसंकल्प और मण्डलब्राह्मण का भी यथासम्भव पाठ करना चाहिये)।

ॐ उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

हम अन्धकार से ऊपर उठकर उत्तम स्वर्गलोक को तथा देवताओं में अत्यन्त उत्कृष्ट सूर्यदेव को भलीभांति देखते हुए उस सर्वोत्तम ज्योतिर्मय परमात्मा को प्राप्त हों।

ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

इसके बाद–

तेजोऽसीति धामनामासीत्यस्य च परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिर्यजुस्त्रिष्टुबृगुष्णिहौ छन्दसी सविता देवता गायत्र्यावाहने विनियोगः।

इस विनियोग को पढ़कर निम्नांकित मन्त्र से विनय पूर्वक गायत्री देवी का आवाहन करे–

ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि। धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥

फिर लिखे विनियोग वाक्य को पढ़े–

गायत्र्यसीति विवस्वान् ऋषिः स्वराण्महापङ्क्तिश्छन्दः परमात्मा देवता गायत्र्युपस्थाने विनियोगः।

तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्र से गायत्री को प्रणाम करे–

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापत्॥

इसके अनन्तर नीचे लिखे विनियोग वाक्य को पढ़े–

ॐकारस ब्रह्म ऋषिर्दैवी गायत्री छन्दः परमात्मा देवता, तिसृणां महाव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिर्गायत्र्युष्णिग नुष्टुभश्छन्दांस्यग्निवायुसूर्या देवताः, तत्सवितुरिति विश्वामित्र ऋषिर्गात्री छन्दः सविता देवता जपे विनियोगः ।

फिर नीचे लिखे अनुसार गायत्री-मन्त्रका कम से कम १०८ बार माला आदि से गिनते हुए जप करें । अधिक जहां तक हो अच्छा है । जप के समय गायत्री के तेजोमय स्वरूप का ध्यान और मन्त्र के अर्थ का अनुसंधान होता रहे तो बहुत ही उत्तम है । गायत्रीमन्त्र इस प्रकार है–

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ

तदनन्तर नीचे लिखे विनियोग-वाक्य का पाठ करें–

विश्वतश्चक्षुरित भौवन ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दो विश्वकर्मा देवता सूर्यप्रदक्षिणायां विनियोगः ।

फिर नीचे लिखे मन्त्र से अपने स्थान पर खड़े होकर सूयदेवकी एक बार प्रदक्षिणा करे–

ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।

इसके पश्चात् बैठकर निम्नांङ्कित विनियोग का पाठ करें–

देवा गातुविद इति मनसस्पतिर्ऋषिर्विराड्नुष्टुप्छन्दोवातो देवता जपनिवेदने विनियोगः।

फिर––

ॐ देवा गातुविदो गातुं वित्वा गातुमित मनसस्पत इमं देव यज्ञ ॐ स्वाहा व्वाते धाः ।

इस मन्त्रको पढ़कर नमस्कार करने के अनन्तर––

अनेन यथाशक्तिकृतेन गायत्रीजपाख्येन कर्मणा भगवान्सूर्यनारायणः प्रीयतां न ममः।।

यह वाक्य पढ़े । इसके बाद––

उत्तमे शिखरे इति वामदेव ऋषिरनुष्टुप्छन्दः गायत्री देवता गायत्रीविसर्जने विनियोगः।

इस विनियोग को पढ़कर––

ॐउत्तमे शिखरे देवी भूम्यां पर्वतमूर्धनि । ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छदेवि यथासुखम् ।।

इस मन्त्र को पढ़कर गायत्री देवी का विसर्जन करे, फिर निम्नांङ्कित वाक्य पढ़कर यह संध्योपासनकर्म परमेश्वर को समर्पित करें–

अनेन संध्योपासनाख्येन कर्मणा श्रीपरमेश्वरः प्रीयतां न मम ।। ॐतत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ।

फिर भगवान्का स्मरण करें––यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ।। श्रीविष्णवेन मः ।। श्रीविष्णवे नमः ।।

फोन नं० : ७३७९७

निष्काम पीठ प्रकाशन (प्रा० लि०)

प्रकाशित ग्रंथ

In the Mirror of Krishna Lila **Price : Rs. 10/-**

Published by:

Sakha Universal
42-A, Krishna Nagar, Safdarjang Enclave,
New Delhi-110029

रहस्य लीला: जादू और जादूगर	मूल्य	रुपया	१०१/-
श्रीमद्भगवद्गीता (खण्ड १)	मूल्य	रुपया	१०१/-
सनातन वाणी	मूल्य	रुपया	१०१/-
सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि	मूल्य	रुपया	५१/-
सरयु के तट	मूल्य	रुपया	२५/-
लीला दर्पण	मूल्य	रुपया	१५/-
लवकुश	मूल्य	रुपया	५/-
धर्म और नारी	मूल्य	रुपया	२/-
सन्त पंथ और नेता	मूल्य	रुपया	२/-
छुआ छूत	मूल्य	रुपया	२/-

धन अग्रिम भेजें, डाक व्यय अतिरिक्त

पांच किताबें एक साथ मंगवाने पर डाक व्यय माफ कर दिया जायेगा!

प्रकाशित पुस्तकें डाक द्वारा मंगवाने का पता :–

श्री सनातन आश्रम, गौरा बाग, कुर्सी रोड, लखनऊ–७

अथवा

पोस्ट बाक्स नं० ५२ महानगर, लखनऊ–६

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	९	?	।	४९	५	पुनर-उत्थान	पुनर्उत्थान
	१५	व्यूत्पत्ति	व्युत्पत्ति		७	प्राप्त को	को प्राप्त
४	१२	की	को	५१	१०	साम्रगीवत्	सामग्रीवत्
५	४	प्रतीकात्मक के	प्रतीकात्मक	५४	१३	आचार्य	उपाचार्य
	१६	उपाचार	उपाचार्य	६१	१२	ग्रहण	प्रकट
	१७	मंत्रोचार	मंत्रोच्चार	६५	१३	लपटते	लपेटते
७	३	पुर्न-पुर्न	पुनः पुनः	६६	१४	सर्वस्त्र	सवस्त्र
	७	पुर्न-पुर्न	पुनः पुनः	७१	१९	कर देती	करती रहीं
८	१७	यथाशक्ती	यथाशक्ति	७२	१९	अलग की	अलग नहीं की
९	१३	अनिश्चिय	अनिश्चय	७३	२	शुत्रु	शत्रु
१०	१३	योनी	योनि		३	शुख	सुख
१३	२८	वहा	वही		७	स्यामेट्रिस्य	स्यामेद्विन्द्रस्य
१४	१४	को	के	७८	७	साहित्य	सानिध्य
१६	१	आत्माग्नियों	आत्मज्ञानियों	८१	३	ज्वलायें	ज्वालायें
१७	१	धुआ	धुंआ	८५	१६	द्वसास	द्वारा
	२	ज्योतिमय	ज्योतिर्मय	८९	१७	अत्मा	आत्मा
	४	देव	जीव	९२	८	प्रतावस्था	प्रेतावस्था
	७	बनो	बने	९४	२३	जनाने	जानने
	८	ततत्वमसि	तत्वमसि	९७	४	सूर्य	शरीर
	२२	वे	ही		८	देवालाय	देवालय
२०	१६	भरमाता	भ्रमाता		१०	मूर्तो	मूर्त्ति
	२३	हो	को	१००	५	समुख	सम्मुख
२१	८	के । द्वारा	के द्वारा ।	१०२	१८	जड़	जुड़
४०	२	अपा की	आप की	१०४	२३	मे हम जले हम	मे जले हम
४४	९	आहवान	आवाहन	१०६	६	ना-ना	नाना
४६	२०	मुझ जला	मुझ में जला	१०९	२४	गयी	गया
	२५	उत्तपतत्ति	उत्पत्ति	११०	९	?	!
४७	१	वास वाले	वास करने वाले		१७	ना-ना	नाना
	३	दे है ।	दे । है		१९	एश्वर्य	ऐश्वर्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२०	१	शेष-शैया	शेष-शयन
	२	मायाव	मायायें
	१२	सज्जा	सजा
१२९	२७	उत्तल	उत्तम
१३०	१३	ग्रहन	ग्रहण
१३१	२२	महां	महान्
१३२	१३	लुप्त	लिप्त
१३३	२	से	सी
१३६	९	सामिधा	समिधा
१३८	१९	जेष्ठ	ज्येष्ठ
१३९	५	मलेच्छ	म्लेच्छ
	११	आन्तराल	अन्तराल
१४१	२५	समार्त	स्मार्त्त
१४३	१	पराम्परा	परम्परा
१४४	१	वशों	वंशों
	९	वशों	वंशों
	२०	आरूण	आरूढ़
	२४	कर्त्वय	कर्त्तव्य
१४७	२०	जितने	जीतने
१४९	१०	दीप्ती	दीप्ति
	१२	निवृत	निवृत्ति
१५१	२०	डोरियों	डोरियों से
१५२	७	आह्वान	आवाहन
	२१	आप ही	आप भी
१५५	१	अधिष्ठता	अधिष्ठाता
	२४	कराने	कराने वाले
१५६	४	रूड़	रुद्र
१५७	७	आस्त्वि	अस्तित्व
	२३	उर्दवगामी	उर्ध्वगामी
१५८	११	गिवण:	गिर्वणः
	१७	आप ही	आप से ही
१५९	१८	तेरे	तेरी
	२२	हुए मे	हुए हैं
	२२	मधुच्छन्दस	माधुच्छन्दस

मन संशय रहित हुआ किसका ? आत्मा को
संशय हुआ कब ? बुद्धि को संशय रहित
बनाने वालो ! मन का संग त्याग
बुद्धि को आत्मसंगी बना लो !
संशय रहेगा न बाकी !
इसी का नाम
सत्संग है।

●

जीवन ही
यज्ञ है ! आत्मा
यज्ञ का अधिष्ठित देव
है, आचार्य है । ब्रह्म ज्वाला
ही यज्ञ की ज्वाला है ! तन सामग्री
और जीव यजमान है। यही उत्पत्ति का मूल
है। सचराचर का रहस्य है। मोक्ष की राह है।

रजि०-६५/प्रेस-८८ फोन : ७३७९७

स्वत्वाधिकारी परमयोगी श्री स्वामी सनातन श्री द्वारा समुद्रक प्रिन्टर्स, श्री सनातन आश्रम कुर्सी रोड, लखनऊ-७ पर मुद्रित एवं निष्काम पीठ प्रकाशन प्रा० लि० कुर्सी रोड, लखनऊ-७ के लिये प्रकाशित एवं सम्पादित !

पो० बाक्स नं० ५२, महानगर, लखनऊ-६

Postal Regn. No. LW/NP-584